मेघदूत

कालिदासकृत

मेघदूत

एक अध्ययन

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ पटना-६

© वासुदेवशरण अग्रवाल

द्वितीय सस्करण १९७१ ८५

मूल्य सजिल्द : ~~८.००~~, पेपरवैक [illegible]

प्रकाशक · राजकमल प्रकाशन प्रा० लि० ।

८ फैज बाजार, दिल्ली-६

मुद्रक · जी० आर० कम्पोजिंग एजेन्सी द्वारा

अजय प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-३२

आवरण . हरिप्रकाश त्यागी

भूमिका

मेघदूत का यह अध्ययन 'मेघदूत मीमासा' नाम से सन् १६२७ की शरद् ऋतु मे लिखा गया था। उस समय मैं प्रथमयौवन के ललाम भाव से परिचित हुआ ही था और मेरा मन उसके अतिरेक सुखो की उस भाव भूमि के लिए उन्मुक्त था जो मेघदूत काव्य का सनातन धरातल है। न जाने किस पूर्व पुण्य से काशी विश्वविद्यालय मे जब मैं बी० ए० की शिक्षा प्राप्त कर रहा था तब किसी एकान्त दिवस मे स्वर्गीय ज्योति की कोई किरण मेरे मानस मे वह अभिज्ञान ले आई जिसने मेरे लिए इस काव्य के अर्थ को ही वदल डाला और इसके स्थूल रूप को सूक्ष्म वाण से वेध दिया। उसने एक साथ ही अध्यात्म और शृगार के नील-लोहित धनुष से मेघदूत के भावलोक को जीतकर मुझे भी उसका नागरिक वना लिया। यह अच्छा ही हुआ कि मन के उस तरगित कल्प मे ही मैंने इन विचारो को लिपिवद्ध कर लिया, क्योकि आज मैं अपने मे भावो की वह शक्ति नही देखता जिससे मेघदूत का संदेश प्राणो के स्वर मे सुनाई देता है। आज तो मानसी गगा का वह तट जहाँ मेघदूत काव्य का जन्म होता है मुझसे दूर हट गया है। स्वय वे महाकवि भी यदि उस समय जब इन भावो के हस उनके मानस-भवन मे उतरे थे इस गेय सगीत को मन्दाक्रान्ता के पदो मे न वॉध लेते, तो फिर न जाने कहॉ वे होते और कहाँ ये भाव ?

मेघदूत काव्य क्या है ? भारत की देवमातृक भूमि पर शृंगार और आत्मा के चैतन्य की परिपूर्ण भाषा है। इसमे तो मानो प्रकृति ने स्वयं अपनी पूरी कथा भर दी है। स्वयं कालिदास ने प्रकृति की इस वाणी

जो जिस रूप में समझा था, उनकी वह पंक्ति—

जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः

ही उस दिन प्रथम बार उस रस-बिन्दु के रूप में मेरे मानस में आई थी जिसने मेरे लिए मेघदूत के मुँदे हुए कपाट खोल दिये थे और मुझे भी उस क्षीर-समुद्र के अमित रस से तृप्त हो जाने का आवाहन दिया था। यह मेघदूत कैसा काव्य है, इसे किस प्रकार से कहा जाय? भावों का आवेश लेकर वाणी उठती है और रस के अतिरेक से तूष्णीम् हो रहती है। वैदिक कल्पना के अनुसार द्युलोक की पुत्रियाँ अनग्ना और अवसना हैं, न वे एकान्त प्रकट हैं, न एकान्त ढकी हुई।

मेघदूत के स्थूल शब्दों के अर्थ भी कुछ उसी प्रकार प्रकट हैं, पर उसके भीतरी अर्थों का कोई ओर-छोर नहीं दिखाई देता। जब तक मानव उद्दाम यौवन से दर्पी है, जब तक विधाता ने उसके प्राणों के संगीत को स्त्री नामक सृष्टि की रहस्यमयी शक्ति के साथ संयुक्त कर रखा है जिसके कारण वह अकेला सहचारी से विरहित चकवाक के समान केवल अपने में नहीं रमता, तब तक मेघदूत के उस संगीत का माधुर्य अक्षुण्ण है और उसकी व्याकुलता मानव हृदय को निजी टीस के रूप में विद्ध करती रहेगी। जब हम मेघदूत का अर्थ समझने बैठते हैं तो हमारे प्राणों का ओजायमान प्रवाह मन-गत कल्पनाओं से उसका भार करने लगता है और मेघ की आकृति, वर्ण, ध्वनि, गति और शक्ति के स्थूल भावों के साथ मिला हुआ जो उसका विद्युत वनिता के साथ स्नेह-मिलाप है, वह हमें तुरन्त में नहीं बैठने देता।

मेघदूत काव्य, आदि से अन्त तक, यौवन के विलासों की कल्पना से सिंचित है। 'निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु' की मिलन-रात्रि में उस अलौकिक के पर्यवसान में हमें वह सब प्राप्त हो जायगा जिसकी हमारे मन के भाग में अभिलाषा की है, तो भोगों के विशाल राज्य में प्रवेश करने से जो आनन्द उत्पन्न होंगे, उनकी समृद्धि से महाकवि ने मेघदूत के स्वरूप का निर्माण किया है। शृंगार के लोक में मेघदूत का यह रस-संचालन मानवी मन को पूरी तरह रस-तृप्त कर देता है। साधारणतः इसे और चाहिए भी क्या? किन्तु कालिदास भारतीय कवि थे।

उनके मानस-क्षेत्र मे भारतीय अध्यात्म का अमृत-निर्झर भी स्थूल भोगों के साथ कही सुरक्षित था। उनके हाथो मे मेघदूत जहाँ एक ओर शृगार और यौवन का परिपूर्ण काव्य है वही वह शिवात्मक चैतन्य की प्राप्ति का भी सकेत देता है। किन्तु यह सकेत गूढ है। उससे मेघदूत के छलकते हुए काव्य-गुण की हानि नही होती। मेघ को कवि ने प्रकृति का काम-रूप पुरुष कहा है। विश्व मे जितनी काम-अभिलाषाएँ है, सवका सभार लेकर मेघ अहर्निश यात्रा कर रहा है। यह दूत उत्तर की दिशा मे कहाँ किस लक्ष्य की ओर गतिमान् हुआ है ? उसकी यात्रा का अन्त वहाँ है जहाँ एक ओर तो यक्ष की अभिलाषाओ का केन्द्र सौन्दर्य की परम निधि उसकी वह प्रियतमा है जो सव युवतियो मे विधाता की प्रथम सृष्टि है, तथा दूसरी ओर जहाँ उसी सिद्धि के लोक मे उन देवाधिदेव शिव का साक्षात् निवास है जिनके मस्तक की चाँदनी भोगपुरी अलका के भवनो को धवलित और भासमान करती है। अलका के उस लोक मे काम की वाह्य शक्ति शिव के लिए समर्पित हो जाती है। प्रकृति का कामरूप पुरुप भक्ति-नम्र होकर शिव के चरण-न्यास की परिक्रमा करता है जिससे सिद्धो की भाँति उसे भी स्थिर पद प्राप्त हो सके। हर-गौरी के सम्मुख वह अपने शरीर को सोपान भगिमा के रूप मे रखता है जिससे वे इस कामात्मा पुरुप पर पैर रखकर मणिपद्म या मणितट पर आरोहण कर सके। यह मणितट या मणिपद्म योग-विद्या का प्राचीन सकेत था जहाँ अमृत का अधिष्ठान माना गया था। शिव की इस पूजा मे आत्मसमर्पण करने के लिए कामरूप पुरुप की पूर्ण विभूति चाहिए। उसे कवि ने 'स्तम्भितान्तर्जलौघ' कहा है। इसका सकेतात्मक अभिप्राय जल या रेत-तत्त्व को अपने ही भीतर स्तम्भित रखने का है।

मेघदूत काव्य मे कवि ने स्थूल भोगप्रधान जीवन और सूक्ष्म अध्यात्म साधन इन दोनो अभिप्रायो का साथ-साथ उल्लेख किया है। विरहिणी नदियो के क्षीण प्रवाह, या जलौघ रूपी आवर्तनाभि का प्रदर्शन करते हुए गति, या उलटकर उछलती हुई चचल शफरियो के रूप मे कटाक्षपात, इन शृगार चेष्टाओ द्वारा नदियो के रूप मे कवि ने नायि-

काओ का ही चित्र खीचा है और मेघरूपी नायक के साथ सगम और रसाभ्यन्तर होने के उभरे हुए चित्र लिखे है। जिन नदियो के रोधस् नितम्बो से जलरूपी वस्त्र स्रस्त हो गया है उनकी मादकता का भी क्या कोई अन्त है ? इस प्रकार के अनेक अभिप्रायो के अतिरिक्त कवि ने अध्यात्म के शाति-जल से प्रोक्षित अनेक क्षेमयुक्त अभिप्रायो का भी उल्लेख किया है। अग्नि नामक सुषुम्णा के मुख मे सभृत शिव का मूर्त्यन्तर तेज या स्कद अध्यात्म का उत्कृष्ट अभिप्राय है जिसके अर्थ की व्याख्या के लिए ही मानो प्रस्तुत अध्ययन प्रवृत्त हुआ था। महाकाल के मदिर मे सान्ध्य-पूजा के समय शिव के ताण्डव नृत्य की सामग्री पूरी करने के लिए मेघ का अपने शरीर को अर्पित करना और अपनी गर्जित ध्वनि से पूजा मे ठनकते हुए मृदग का ठाट प्रस्तुत करके भवानी की भक्ति प्राप्त करना, अथवा शिव के पदन्यास को प्रणाम करना, ये सब अध्यात्म की जानी-पहचानी भाषा के अक्षर है। भारतीय गृहस्थ-जीवन की मान्य पद्धति के अनुसार न तो अतिशय भोग-प्रधान जीवन ही मनुष्य का लक्ष्य है और न जीवन का निराकरण करके शम दम से जूझते रहना ही यहाँ का जीवन-दर्शन था। जीवन का सत्य दोनो के समन्वय मे है और यही इस देश की प्राचीन गृहस्थोपनिषद् थी जिसके कारण गृहस्थ जीवन को मानवीय जीवन का सच्चा पर्याय माना गया और उसे सब आश्रमो मे प्रदीप्त सकल्प वाला कहा गया।

पुस्तक के साथ मूल श्लोकों का गद्यानुवाद सन् १९५० मे विशेष-रूप से किया गया था।

काशी-विश्वविद्यालय

देवोत्थानी, स० २०१०

—वासुदेवशरण

विषय सूची

१.	मेघदूत—एक दृष्टि	—	१३
२	विराट् जगत्	—	३१
३	कामरूप पुरुष	—	४६
४	मेघ का दूत-कर्म	—	८८
५	विरह प्रवास और प्रेम	—	६५
६.	यक्ष और यक्षिणी	--	१०६
७	अलका और उज्जयिनी	—	१३०
८	शिव का स्वरूप	—	१३६
९.	मेघदूत मूल और गद्यानुवाद		
	(अ) पूर्वमेघ	—	१५७
	(आ) उत्तरमेघ	—	१८६
१०	टिप्पणी	—	२१५
११	परिशिष्ट १	—	२२७
१२	परिशिष्ट २	—	२३२

मेघदूत

मेघदूत—एक दृष्टि

इस ससार मे मेघ को कौन नही जानता ? निर्जन अरण्य के एकात नीड मे बैठे हुए पक्षि-शावक से लेकर राज-राज कुबेर के अनुचर यक्षो तथा सिद्धो तक मे मेघ के लिए स्वागत और सम्मान है। स्थूल और सूक्ष्म, दृश्य और अदृश्य, निरिन्द्रिय और सेन्द्रिय—सभी पदार्थ मेघ के आगम से प्रभावित होते है। कवि ने उसे साधु[1], सौम्य[2], सुभग[3] और आयुष्मान्[4] कहा है। मेघ का आशीर्वाद सबके लिए एक-सा है। उसके प्रसाद मे सब भाग पाते है। उसका संचय त्याग के लिए होता है। प्रजाओ का पालन करने से मेघ प्रजापति है। उसका यज्ञ-द्वार सबके लिए खुला है, उसके सर्व स्वदक्षिण वितरण से सब लोग पुष्ट होते है। नीलाभिराम विष्णुरूप मेघ वर्षाऋतु मे जितना अधिक सौभाग्य धारण करता है, लोको की लक्ष्मी उतनी ही अधिक सपन्न होती है। मेघ की आयु सृष्टिकल्प के समान सनातन है। प्रजाओ के उद्‌भव, स्थिति, सहार—तीनों मे उसका भाग है। मेघ अमर ब्रह्मचारी[5] है, इसलिए पुरातन होते हुए भी वह नित्ययुवा है। प्रति सव-

---

१—एभिः साधो हृदयनिहितैर्लक्षणैर्लक्षयेथा । मेघदूत २।१७
अर्थात् हे साधु मेघ, हृदय में रखे हुए इन लक्षणो से उसे जान लेना।

२—श्रोष्यत्यस्मात्परमवहितात्सौम्य सीमन्तिनीनां । मेघ० २।३७

३—सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती । मेघ० १।३६

४—तासायुष्मन् मम च वचनादात्मनश्चोपकर्तुम् । मेघ० २।३८

५—ब्रह्म नाम उदक का है (निघंटु १।१२)। उसके साथ विचरण करनेवाला मेघ ब्रह्मचारी है। ऋग्वेद मे उषा को भी 'अमर्त्या पुराणी युवती' कहा है। ऋक् ३।६१।१

रसर मे वह अपना कायाकल्प कर लेता है। इस प्रकार सौम्य-सुभग-साधु-आयुष्मान् मेघ को यक्ष से प्रीतिप्रमुख वचनो[1] से जो बडाई दी है, वह सर्वथा उसके योग्य है। मेघ जीवन-जल को अपने अन्दर बद्ध रखता है, इसलिए वह जीमूत है। मेघ-जल से ही वनस्पति-जगत् पुष्ट होकर प्राण या विश्वव्यापी जीवनशक्ति को अपने भीतर संचित करता है। जल ही सब ओषधियो का सारभूत रस है।[2] कृष्टपच्य और अकृष्टपच्य ओषधियाँ ही पशुओ का संवर्धन करती है। विराट् प्रकृति मे मनुष्य भी एक अन्नाद पशु है। इसलिए जीमूत मेघ सब प्रजाओ का स्वामी है। वह जल का सर्वत्र वहन करता है इस कारण अम्बुवाह या वारिवाह नामवाला है। जल का मेहन करने के कारण उसे मेघ कहते है।[3] सौदामिनी तडित् उसकी कलत्र है, इससे वह तडित्वान् है। अर्धनारीश्वर शिव के समान अपनी विद्युत् प्रिया को अंक मे लिये हुए वह उस व्योमविहारिणी के साथ स्फुरण करता देश-देश मे घूमता है। वृष्टि का कारण मेघ नही, विद्युत् है। वृष्टियज्ञ मे विद्युत् का ही यजन किया जाता है, क्योंकि वही जल और अन्नादि देने की सामर्थ्य रखती है—

वृष्टिर्वै याज्या विद्युदेव, विद्युद्धीदं वृष्टिमन्नाद्य संप्रयच्छति।

(ऐ० ब्रा० २।४१)

बिना लक्ष्मी के विष्णु और बिना पार्वती के शिव से किस कल्याण की आशा हो सकती है? मेघ की सज्ञा धूमयोनि भी है क्योंकि वह नित्य धूम से उपचित वपु[4] होता है। लिखा है—

अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद्वृष्टिः। (शतपथ० ५।३।५।१७)

वायु के प्रहार को जो धैर्य से सहता है वही घन है। उसके अन्दर जलराशि भरी हुई है, इसलिए कवि ने उसे स्तम्भितान्तर्जलौघ[5] कहा है।

१—प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनैः स्वागतं व्याजहार। मेघ० १।४

२—एष ह वै सर्वासामोषधीनां रसो यत्पयः। कौषीतकी ब्रा० २।१

३—मेघः कस्मात् मेहतीति। निरुक्त।

४—धूम ज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः। मेघ० १।५

और भी

जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपैः। मेघ० १।३२

५—भंगीभक्त्या विरचितवपुः स्तम्भितान्तर्जलौघः। मेघ० १।६०

सृष्टि का उपकार करनेवाले मेघ वे ही है जिनकी कुक्षि मे अथाह जल के अर्णव भरे हैं। जल की एक सज्ञा वृप है। जिन मेघो मे वृप नही उनका जन्म निष्फल है। पुरुष शरीर मे जल का रूप वीर्य है।[2] जिनके पास पुष्कल वृष का संचय है उन्ही मे गौरव है। आगे चलकर कवि को धन के गौरव से एक पुण्य-साधन कराना है। प्रभूत जलराशि वाले अनन्त वृपशक्तिमय मेघ के ही सोपान पर पैर रखकर शिव मणितट[3] पर आरोहण करते है, निचुडे हुए मेघो का वहाँ कुछ प्रयोजन नही। इन्द्र-शक्ति से शून्य इन्द्रियोवाले पुरुषो मे सयम और तप भी कृतकार्य नही होते। वलाका-मिथुन[4] गर्भाधान का उत्सव मनाने के लिए मेघोपस्थान अर्थात् मेघ की सेवा करते है, इसलिए इन्द्र के प्रधान पुरुष की एक सज्ञा वलाहक भी है। इस प्रकार **जललवमुच् पयोद** का नामकरण उत्सव कोषकारो ने मनाया है।

निरुक्तकार यास्क भी इस सस्कार के एक ऋत्विज है (निघटु, अध्याय १ खड १०)। उनके अनुसार मेघ की एक सज्ञा वृषंधि है। कालिदास ने इन्द्र को वृषा[5] कहा है और मेघ मघवान् इन्द्र का प्रतीत पुरुष है[6], इसलिए उसे वृपधि होना ही चाहिए।

उक्त आचार्य ने मेघ को वराह भी कहा है—

अद्रि ...पर्वतः गिरि...वराहः......इति मेघनामानि।

(निघटु, १।१०)

पौराणिक कहते है कि वराह भगवान् ने हिरण्याक्ष दैत्य का संहार करके सलिलार्णव से पृथिवी का उद्धार किया था। देखना चाहिए कि सृष्टि की खोज करने वाले पडितो ने मेघ के वराह रूप को कैसे समझा था।

१—आपः रेतो भूत्वा शिश्न प्राविशन्। ऐतरेय उपनिषद्।

२—कालिदास का मणितट ही योग का मणिपद्म, मणिकर्णिका अथवा ऊर्ध्व मस्तिष्क है।

३—गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमावद्धमालाः।
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं वलाकाः। मेघ० १।९

४—तपः कृशामभ्युपपत्स्यते सखीं वृषेव सीतां तदवग्रहक्षतां।
कुमार सं० ५।६१। वृषा वा इन्द्रः। कौषीतकी ब्राह्मण २०।३

५—प्रकृतिपुरुषं मघोनः। मेघः १।६

वराह शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

वरम् आहन्ति इति वराह

अर्थात् जो वर का आहनन करे वह वराह है। वर नाम सूर्य का है। उसके तेज का जो प्रतिबन्धक हो वही वराह नाम से पुकारा गया। सृष्टि के आदि मे तपते हुए सूर्य की सज्ञा हैमाड, हिरण्यगर्भ या हिरण्याक्ष थी। सूर्य जब तक अप्रतिहत तेज से चमकता रहा तब तक लोक-लोकान्तरो की कल्पना असभव थी। अलकार रूप से मानो उसने पृथिवी आदि लोको का अपनी कुक्षि मे सहार कर लिया था। उसके तैजस वपु से सृष्टि-प्रक्रिया आगे चलाने के लिए वराह की आवश्यकता हुई। उस सूर्यमंडल को चारो ओर से तैजस वाष्पीय मेघो ने परिवृत कर लिया। कालातर मे जब ऊष्मा का ह्रास हुआ तथा सूक्ष्म तैजस वाष्प स्थूल जल आदि के रूप मे परिणत हुई, तब क्रमशः गुरु तत्त्वो के सयोग से पृथिवी का जन्म हुआ। वैज्ञानिको के मतानुसार युरेनियम आदि विद्युत्स्फुलिगी[1] तत्त्वो को जो सूर्य मे पाए जाते है, क्रमश अपना रूप परिवर्तन करके स्थूल धातुमयी आकृति ग्रहण करने मे हजारो-लाखो वर्षो का समय लगा होगा। यही हमारी सृष्टि का वाराह कल्प था। भारतीय दर्शन मे पिंडगत चेतना की तुरीय, सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत ये चार अवस्थाएँ मानी जाती है। इन्ही से मिलती हुई ब्रह्माण्डव्यापी चेतना की चार अवस्थाएँ है—ब्रह्म, ईश, हिरण्यगर्भ और विराट्। हिरण्यगर्भ दशा से विराट दशा मे आने के लिए ही वराह की आवश्यकता हुई हिरण्यगर्भ दशा मे प्रकृति-तत्त्व सचित था। विराट् होने के लिए, अर्थात् देश मे व्यापक होने के लिए उसका उपबृहण स्वयभू ब्रह्मा ने किया।[2]

१—विद्युत्स्फुलिगी : रेडियो ऐक्टिव।

२—तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिन् जज्ञे स्वय ब्रह्मा सर्वलोकपितामह ॥ मनु०
इसी मे नारी और पुरुष दो भेद हुए, अर्थात् इलेक्ट्रोन और प्रोटोन कहलानेवाली दो प्रकार की शक्ति हुई जो मूल मे एक ही है। सारा जगत् इन्हीं दो मे बँटा है—प्राण, अपान; स्त्री, पुरुष; रयि, प्राण; दो अश्विनी; मित्रावरुण; अग्नीषोम आदि। धन और ऋण विद्युत् का भेद कार्यकाल समुत्पन्न है, वस्तुत विद्युत् एक

उस विद्युत के महार्णव मे अपने-आपको विस्तारित करने की शक्ति अपने भीतर से ही उद्भूत होती है। उसके कारण परमाणु बहिर्मुख होकर विकीर्ण होने लगते है और उनसे क्रमश लोक-लोकातरो की सृष्टि होती है।

इस जगत् मे सामान्य मनुष्य से लेकर बड़े-से-बडे ऐतिहासिक, वैज्ञानिक और कवि तक, सभी मेघ का ज्ञान प्राप्त करते है। किसी वैज्ञानिक के पास जाकर पूछो, "मेघ क्या है ?" उसका यही उत्तर होगा—

धूम ज्योति सलिल मरुता सन्निपातः—

अर्थात् मेघ केवल धुएँ, आग, पानी और हवा का जमघट है। अपने हिसाब से उसे बड़ा सतोप है कि प्रकृति के गूढ नियमो के पाडित्य द्वारा केवल उसने ही सत्य को खोज पाया है। वायु मे धुएँ के रूप मे सूक्ष्मातिसूक्ष्म रज कण छाए रहते है। मरुत् के संघर्ष से ये कण विद्युत् से परिगृहीत हो जाते है। तव वाष्प-रूप से अतरिक्ष मे व्याप्त जल को वे अपने ऊपर आकृष्ट कर लेते है। इस प्रकार मेघ वनकर जल वृष्टि के योग्य हो जाता है। कल्पना अक्षरश. सत्य होते हुए भी कितनी नीरस है। वैज्ञानिक प्रकृति को ऐसी ही अवस्था मे देखता है। प्रकृति के विभूतिमय गुणो पर मुग्ध होकर मनुष्य मे आश्चर्य करने की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति है, वैज्ञानिक अपने रहस्य-विवरण द्वारा उसका मानमर्दन करना चाहता है। उसके लिए मनोभावों का अस्तित्व जैसे है ही नही, मानो भरद्वाज पक्षी के विज्ञानात्मक वर्णन मे निरत विद्याव्यसनी उन अनंत लोको को भूल जाता है जिनके नित्य-नित्य पर्यटन मे ही पखेरू का जीवन है। केवल मात्र सत्य की खोज मे भावना से हाथ धो बैठना ही वैज्ञानिक के भाग्य मे आया है। यदि सच पूछा जाय तो आज तक निरपेक्ष सत्य की उपलब्धि किसे हुई है ? इसीलिए कवि लोग सभावित सत्य को मनोभाव और कल्पना के वर्णव्यजक छद-पात्रो मे भरकर मानवी हृदय को आनंद प्रदान किया करते है। रससिद्ध कवि को भी यदि विज्ञानानुगत विमर्श से ही शाति मिल सकती होती तो मेघदूत जैसे काव्य का जन्म ही न होता।

ही है। शिव और शक्ति मूल में एक है; वे द्विधा भिन्न प्रतीयमान होकर कार्य करते है, जैसे चुंवक के दो ध्रुव होते है।

धूमज्योति सलिलमरुता सन्निपात:

की समालोचना जब कवि ने की, तो यह वर्णन उसे अत्यत फीका मालूम हुआ। उसने उसके आगे अपनी समति के दो पद रख दिए—क्व मेघ ?

धूमज्योति.सलिलमरुता सन्निपात. क्व मेघः ?

अर्थात् हे वैज्ञानिक, तुम्हारा मेघ—धुएँ, आग, पानी का विच्छिन्न टुकडा—कितना हेय और निकृष्ट है ! 'क्व' पद की व्यजना अत्यत तीव्र है। कविता और विज्ञान के सदर्भ मे अथवा सत्य और कल्पना के द्वद्व मे कवियो ने सब देशो और सब कालो मे अपने विपक्षियो के प्रति जो तिरस्कार का भाव प्रकट किया है, वह कालिदास के 'क्व मेघ.' इन दो शब्दो मे सरलता और तेजस्विता से व्यक्त हुआ है। अचेतन प्रकृति को भी मनोभावो के सपर्क से चेतन बना देने मे ही कवि का महान् कौशल है, इसीलिए घाम, धूम, नीर और समीरो के सन्निपात मे अनत विश्व की कल्पना कालिदास कर सके।

और ऐतिहासिक ? ऐतिहासिको के लिए मेघ क्या हो सकता है ?

जात वशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानाम् (१।६)

अर्थात् पुष्कर और आवर्तक मेघो के विश्वविश्रुत वश मे तुम उत्पन्न हुए हो। वशावली निर्माण करके उसे भुवनविदित सिद्ध करने के लिए गुण-गाथाओ का गान करते-करते ही इतिहास के पडितो की आयु नि.शेष हो जाती है। अपने पूर्व गौरव का परिचय पाकर जो प्रसन्नता होती है वही इतिहास का आनन्द है। परन्तु इतिहास की जडीभूत घटनावली और काव्य की अमर कल्पना मे क्या सबध ? नवनवोन्मेषवती कवि प्रज्ञा इतिहास के जड अभ्यास से अपने-आपको कुंठित क्यो करने लगी ? कवि-कल्पना का अवतार तो किसी अन्यतम आनन्द की अभिव्यक्ति के लिए होता है।

हमारा यक्ष याचक[1] की हैसियत से मेघ के सामने आता है। मेघ का मागध बनकर वह अपने दाता को प्रसन्न कर लेना चाहता है। उसने अपने मनोनीत दूत को कुलीनता का प्रमाणपत्र दिया है। कुल के साथ

१—तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद्दूरबन्धुर्गतोऽहं। १।६

शील है और शील[1] का एक लक्षण शरणागतरक्षा या शरण्यता है।[2] यक्ष पुष्करावर्तक वंश की बडाई जानता था—

आवर्तके महावर्त संवर्तो बहुतोयद ।
पुष्करे चित्रिता वृष्टिर्द्रोणोऽपि बहुवारिद. ॥[3]

अर्थात् आवर्तक मेघो मे बड़े-बडे भँवर पडते है, संवर्त मे जल-संचय होता है, पुष्कर मे चित्र-विचित्र वृष्टि होती है तथा द्रोण संज्ञक मेघ अपरिमेय जलराशि के स्वामी होते है।[4]

और भी

यज्ञजास्तु घना घोरा पुष्करावर्तकादय[5]

अर्थात् पुष्करावर्तक मेघो की महिमा उनके यज्ञ समुद्भूत होने के कारण है। वैज्ञानिक को मेघ का निर्माण करने के लिए केवल धुआँ चाहिए,

---

१—संतप्तानां त्वमसि शरण । १।७

२—हारीत के अनुसार शील के तेरह गुण है—
ब्रह्मण्यता, देवपितृभक्तता, सौम्यता, अपरोपतापिता, अनसूयता, मृदुता, अपारुष्य, मैत्रता, प्रियवादित्व, कृतज्ञता, शरण्यता, कारुण्य, प्रशांति ।

३—बृहज्ज्योतिःसार ।

४—विज्ञान के अनुसार मेघो के चार भेद है। उनके अंग्रेजी नाम इस प्रकार है—
'सिरस', 'क्यूमुलस', 'स्ट्रेटस', 'निंबस'। इन्ही के परस्पर सम्मिलन से और अवांतरभेद हो जाते है। सिरस मेघ पाँच से दस मील की ऊँचाई पर सबसे ऊपर रहते हैं। इनमें छोटे हिमकणों के समुदाय की परतें फैली रहती है। क्यूमुलस मेघ त्रिकोण रूपवाले होते है। इनकी ऊँचाई भूमि से एक मील ऊपर होती है। इनमें हवा की भाप ठंडी होकर फिर जलीय रूप ग्रहण करने लगती है। स्ट्रेटस मेघ बहुत नीचे और फैले हुए होते है। ये नीहारात्मक होते है और इनके उदय से दिशाएँ प्रसन्न और ऋतु सौम्य समझी जाती है। निंबस मेघ घन, काले, जलराशि से भरे होते है। इन्हीं से वृष्टि मूसलाधार होती है।
—शब्दार्णव

परन्तु सहृदयजन उसे यज्ञधूम कहते हैं। संभव है प्राचीन लोगों ने वायु के सूक्ष्म धूलिकणों को हव्य वनस्पतियों के सूक्ष्म विकिरण द्वारा विद्युत्परिगृहीत करके वृष्टिलाभ करने में सफलता प्राप्त की हो। पर कम-से-कम इतना तो स्पष्ट है कि यज्ञ में अनेक सदाशाओं और दाक्षिण्ययुक्त भावनाओं का सन्निवेश होता है। उन पुण्य अभिलाषाओं को लेकर यज्ञ-धूम ऊपर उठता है और धूमयोनि मेघ में मिल जाता है। प्रकृतिरूपी वेदी में नव मास तक सूर्य की रश्मियाँ जिस यज्ञ का विधान करती हैं उसी के दाक्षिण्य फल से युक्त पुष्करावर्तक मेघ सर्वस्वदक्षिण यज्ञ का अंत लेकर विश्व-भर को जीवन-जल प्रदान करते फिरते हैं।

वैज्ञानिक और ऐतिहासिक के अतिरिक्त किसी गाँव में जहाँ कृषि ही जीवन का आधार हो, जाकर मेघ का रहस्य पूछो तो कुछ ऐसा उत्तर मिलेगा—

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः।
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः ॥ (१।१६)

हे ग्रामवासी जीवो, तुम्हारा मेघ के साथ कौन सा प्रेम है? वे कहते हैं—हमारी वधुओं के लोचन मेघ के अभिराम रूप का इसलिए पान करते हैं कि मेघ ही कृषि का प्रवर्तक है। मेघ के आने में कदाचित् एक मास की भी देरी हो जाय तो सारी वन-प्रकृति आँखें फाड़कर आकाश की ओर निहारने लगती है। मेघ का सुधावर्षण उसके नेत्रों के लिए अमृत-द्रव है। अतः मेघ को गाँवों में जो स्वागत मिलता है वह कहीं अधिक स्वाभाविक, सरल और प्रीति-स्निग्ध होता है। पौरांगनाएँ तो कटाक्षों से मेघ के साथ विलास करती हैं। उज्जयिनी की उन्मादिनियों के पास मेघ को इसके सिवा और क्या मिलेगा—

विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां।
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि ॥ (१।२७)

उद्दाम नागर रमणियों और पुरुषों के लिए मेघ वासना को बढ़ानेवाली सामग्री है। मेघ के रस-निर्षिचन के साथ उनका भी परिमलोद्गिरण होने लगता है।[1] पर गाँववाली वधुएँ भ्रूविलासों की वक्र गति से नितांत

१—यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणा-
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि। मेघ० १।२५

अनभिज्ञ होती है। वे पूज्य और परोपकारी अभ्यागत के योग्य प्रेम से सने भावो से मेघ का स्वागत करती है। वे उसके दर्शनो से पुलकित होकर उसे सौ-सौ बार असीसती है—'हे बरस-बरस दिन आनेवाले यात्री, तुम्हारी बडी आयु हो, तुम सदा इसी भाँति हमारे घरो मे आते रहो।' यदि यह पूछा जाय कि वृष्टि किनकी शुभ कामनाओ का अनुकूल फल है, तो हमारी उँगली इन्ही भोली-भाली ग्राम-वधूटियों की ओर उठेगी। भ्रूविक्षेपकुशल पौरागनाओं के उच्छृखल उद्दीपन की अस्थिर कामना पर मेघमालाओ का आकाश मे एकत्र होना निर्भर नही है। जिन जनपदो का जीवन सयम-सूत्र मे दृढता के साथ बँधा हुआ है, उन्ही के धनगात्र निवासियों पर राष्ट्र की सम्पत्ति की अभिवृद्धि निर्भर है। वही के स्त्री-पुरुषो को मेघागम के रहस्य का गहरा अनुभव प्राप्त होता है। वनस्पति-जगत् और पशु-जगत् मे मेघ के कारण जो परिवर्तन होते है, उनके साक्षी कृषक ही है। कृषि को ब्राह्मण-ग्रथो मे सर्वदेवतामयी[1], कहा गया है। सूर्य, मरुत्, मेघ या इन्द्र, पशु, पक्षी, राजा प्रजा—ये सभी जब वीणा के तारो के समान एक स्वर मे अनुस्यूत हो जाते है तभी कृपि या राष्ट्र-भृत् अन्न की सम्प्राप्ति होती है।

उपर्युक्त विशेषज्ञो के अतिरिक्त सामान्य पुरुष जब ऊपर आँख उठाकर देखते है, तब उन्हे सरसरी तौर पर मेघ के केवल वर्ण और परिमाण ही दिखाई देते है। उनके लिए कवि ने कहा है—

आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानु ।
वप्रक्रीड़ा परिणतगज प्रेक्षणीय ददर्श ॥ (१।२)

अर्थात् मेघ क्या है, केवल एक काले भीमकाय हाथी के समान ढूसा मारने और धुन्ध मचाने वाला जीव है। मेघ और हाथी का सम्बन्ध बहुत पुराना है। प्रकृति मे वृष्टि करनेवाले नियमो का ही समुदित नाम इन्द्र है। इस इन्द्र का वाहन ऐरावत हाथी है। हमारा गजाकृति मेघ भी इन्द्र का प्रधान पुरुप कहा गया है (मेघ० १।६)। सस्कृत मे 'इरा' जल को कहते है। इरा का जो अक्षय भण्डार है, उस जलधि की ही सज्ञा इरावान् है। उसे इरावान् मे जो जन्म ले, वही ऐरावत है—

१—सर्व देवत्या वै कृषिः। शतपथ० ७।२।२।१२

इरा आप, इरावान् समुद्र, तत्र भव ऐरावत अभ्रमातङ्ग:।[1]
यह ऐरावत हाथी हमारा अभ्रमातग मेघ है, क्योकि दूर से इसका आकार मातंग के सदृश लगता है। पुराणो के अनुसार भी इन्द्र का हाथी ऐरावत मेघो के साथ विचरता है। मेघ को अभ्र इसलिए कहते है कि इसमे जल का भरम वाष्परूप मे जमा होता है। यथा—

अभ्र वा अपा भस्म। (शत० ७।५।२।४८)

धूमो भूत्वा अभ्र भवति, अभ्र भूत्वा मेघो भवति, मेघो भूत्वा प्रवर्षति।
(छादोग्य उपनिषद् ५।१०)

अर्थात् सूर्य-ताप के सयोग से जल भस्म होता है। उसकी पहली आकृति वाष्पधूम की होती है जिसे अभ्र कहते है, क्योकि वह जल को अपने अन्दर धारण करता है। यही अभ्र जब अतरिक्षगामी होता है, तब साघातिक रूप मे मेघ की उपाधि ग्रहण करता है। मेघ होने से इसे मेहन या सिंचन की योग्यता प्राप्त होती है। इरावान् समुद्र मे जन्म लेने के कारण ऐरावत और जलो को अपने अन्दर धारण करने से अभ्र—एक ही अर्थ दो रूपो मे सुन्दरता के साथ व्यक्त हुआ है। वर्ण, परिमाण और क्रिया मे सादृश्य के कारण[2] मेघ का सबसे अच्छा उपमान हाथी ही है। इसी अभ्रमातग ऐरावत का जन्म अन्यत्र पुराणो मे समुद्र-मथन के समय उदधि से बताया गया है। अपने अभ्र-वाहन का आश्रय लेकर इन्द्र समुद्र से उठकर आकाश मे आते है। वहाँ जब पुष्करावर्तादि मेघ खडे होकर मठारते और गरजते है, तब सामान्य जन प्राय कहा करते है कि आज इन्द्र अपने वाहन पर चढकर आए है, इससे वृष्टि होगी। इस देश के इन्द्र का वाहन ऐरावत पूर्वी दिशा का अधिपति दिग्गज है। पूर्वी दिशा का नाम ही ऐंद्री दिशा है, क्योकि भारतमाता का श्यामल अचल प्राची के अनिलो से ही विकपित होता है। यहाँ की वृष्टि का अधिकाश भाग पूर्व के महोदधि से उठने वाली हवाएँ ही लाती है। हमारा आधिदैविक इन्द्र और उसका वाहन ऐरावत दोनो ही अतत मेघ के नाम है।

१—मल्लिनाथ, रघुवंश की संजीवनी टीका, १।३६
और भी, अमरकोष—'ऐरावतोऽभ्रमातंग:'।

२—गजैश्च घनसन्निभै.—रघुवंश, ४।२९
इस पर 'संजीवनी'—वर्णत: क्रियात: परिमाणतश्च।

कोष मे ऐरावत की पत्नी का नाम अभ्रमु है। अभ्रमु की व्याख्या कई प्रकार से की जाती है। अभ्र की जो सौदर्य-श्री उसके प्रकृति-सुभग शरीर मे व्यापक है, जो उसकी स्तनितच्छवि है, किंवा जो जल-निर्भर मेघ की मथरता है, वही अभ्रमु है।[1] अन्यत्र, ऐरावत की पत्नी अभ्रमु विद्युत् का ही एक नाम है। इस प्रकार विद्युत्कलत्र[2] या विद्युत्वत[3] मेघ और ऐरावती प्रिय ऐरावत एक ही पदार्थ है। ऊपर कहा जा चुका है कि जिन मेघो मे विद्युत् नही है वे पानी नही बरसा सकते। विद्युत् रूप शक्ति से ही मेघो मे विद्योतन और गम्भीर गर्जन की सामर्थ्य उत्पन्न होती है—

विद्युद्वा अपा ज्योति.। (शत० ब्रा०).

वियोगी यक्ष ने चलते-चलते मेघ को यही आशीर्वाद दिया है कि क्षण भर के लिए भी तुम्हारा अपनी सहचरी विद्युत् से वियोग न हो।

मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोग। (मेघ० २।५२)

अर्थात् हे मेघ, जिसे तुम अक मे धारण किए रहते हो उस विद्युत् से कभी विलग मत होना। उससे विप्रयुक्त होकर तुम्हारी श्री, तुम्हारा 'मघ' सब शून्य मे विलीन हो जायगा। मेरे समान काता-विश्लेषित तुम जिस देश मे जाओगे, वहाँ दु ख ही दु.ख पाओगे। सुसमय और सम्पत्ति की जगह दुष्काल देखोगे। वहाँ तुम्हारा अपना सौन्दर्य भी तिरोहित हो रहेगा। फिर प्रीति-स्निग्ध नयनो से तुम्हारा स्वागत कौन करेगा? तुम्हे देख-देख प्रमुदित होने के स्थान मे लोग रोएँगे और तुम्हारी उस प्रिया सौदामिनी को याद करेगे।

यह सुदामा पर्वत की पुत्री कभी वलयाकार मे चमक पड़ती है,[4] तो कभी नेत्रो को चकाचौंध करनेवाला क्षणप्रभा का चचल तेज चमकता है, और कभी वही खद्योतो की पक्ति के समान अल्पाल्पभास से विलसित होती है—

१—अभ्रे खे माति, न भ्राम्यति वा मन्थरगामिनीत्वात् इति अभ्रमुः। अमरकोष रामाश्रमी टीका।

२—विद्युत्कलत्र। मेघ० १।३८

३—विद्युत्वन्तम् मेघ २।१

४—विद्युद्दाम स्फुरित चकितै.। मेघ १।२७

अर्हस्यन्तर्भवनपतिता कर्तुमल्पाल्पभास
खद्योतालीविलसितनिभा विद्युदुन्मेषदृष्टिम् । (२।१८)

वर्ण सौन्दर्य मे वर्षा-काल के मेघो की उपमा कज्जल के पहाडो से दी जाती है । हमारा मेघ भी चिकने घुटे अजन की आभा वाला है । (स्निग्ध भिन्नाञ्जनाभे, १।५६) । वह अत्यन्त सुन्दर है ।[1] वर्षा ऋतु मे तो उसकी शोभा और भी द्विगुणित हो जाती है ।[2] मेघ ही क्या, पुरुष, स्त्री, वृषभ, अश्व सभी जब वृष-शक्ति से भर जाते है तो उनका वर्ण स्निग्ध श्याम और परम अभिराम हो जाता है । मेघ की शोभा को पूर्णतया कह सकना असम्भव है, अत कवि ने उसकी उपमा शिव के कण्ठ की छवि से दी है—

भर्तु कण्ठच्छविरिति गणै सादर वीक्ष्यमाण । (१।३३)

अपने स्वामी की शोभा के दर्शनाभिलाषी शिव-गण प्रकृति मे जिस पदार्थ को उस श्री से श्रीमान् देखते है उसी के रूप का जी भरकर पान करते है । जिनके नेत्रो मे शिव के कठ की वर्ण-विभूति समाई है वे जहाँ उसका आभास भी पाते है, उस पर निछावर रहते है । आदित्य, चन्द्रमा और विद्युत् की प्रभा जहाँ भासमान नही होती, उन शिव की बहुल ज्योति की एक रश्मि के दर्शन भी यदि मेघ मे भक्तो को प्राप्त हो तो मेघ के सौभाग्य और तेज का क्या कहना ? मेघ है ही क्या, केवल एक नामरूपात्मक विकार है । वह यदि परमशिव तत्त्व की झलक का दर्शन करा देने मे प्रतीक मात्र बन सके, तो भी उसका जन्म सफल हो गया, मानो उसने समस्त लोको के कल्याण का उपार्जन कर लिया ।

कालिदास की कला मे इष्ट वस्तु के सौंदर्य की पराकाष्ठा दिखाने की एक अद्भुत युक्ति है । रघुवश के तेरहवे सर्ग मे कवि गगा और यमुना के मिले हुए प्रवाह-सगम की छटा का वर्णन करने लगा । जब एक, दो, तीन, चार आदि उपमाओ का अत ही होता न दिखाई पडा, तब कवि ने उस शोभा की उपमा शिव के शरीर से दे डाली, मानो सौंदर्य को सान्त की सीमा से निकाल कर अनत के हाथो मे सौप दिया—

क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य ।
पश्यानवद्याङ्गि विभाति गंगा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गै ।। (रघु० १३।५७)

१—प्रकृति सुभगः आत्मा । मेघ० १।४०
२—प्रावृषा संभृतश्रीः । मेघ० २।५२

'कृष्ण सर्पो से विभूषित और भस्मागराग से विलेपित[1] जो ईश्वर का शरीर है, उसके समान सुन्दर गगा और यमुना के सगम को, हे अवदात सीते, तुम देखो।' उस शरीर से भी प्रशस्यतर किसी उपमान की कल्पना का विचार यदि भारतीय कवि अपने मन मे लाए, तो मानो वह इस देश की कला के सनातन आदर्शो का तिरस्कार करता है। मदन का जो निग्रह कर चुके है, ऐसे अरूपहार्य शिव की शोभा नि सीम है। उससे परे शोभा कहाँ ? अनन्त से परे अनन्तता कैसे सभव है ? सौन्दर्य का तो शिव के साथ तादात्म्य ही है। त्रिभुवनगुरु चडीश्वर की कण्ठच्छवि का प्रतीक मात्र दिया जा सकता है, समग्रतया उसका वर्णन कौन करेगा ? बस, मेघ की शोभा भी ऐसी ही उपमा पाकर अनन्त हो गई है। उस सौदर्य का प्रयोजन भोग नही, ईश्वर-समर्पण है। इसी स्थिति मे पहुँच कर हम कहते है—'स्त्री, तेरा नाम ही पवित्रता और सौदर्य है'। कवि चाहता है कि मेघ अपने सायाह्न तेज को शिव की नृत्यसामग्री में चढा दे, अपनी इस क्षणभगुर छवि को वह नटराज के अविनाशी नृत्य की शोभा बढाने मे अर्पित कर दे।[2] मेघदूत मे आदि से अंत तक यह स्मरण रखना होगा कि मेघ को अलका के उस लोक मे जाना है जहाँ धनपति के सखा शिवजी साक्षात् निवास करते है, जिन्होने काम को भस्मावशेप कर दिया था। इसलिए काम उस लोक मे अपना चाप चढाने से डरता है।

मेघ के साथ इद्रधनुष का साहचर्य है। सातप मेघ के अग्रभाग मे रग-विरंगा धनुप चमकता है। वैज्ञानिक कहते है कि जव आकाश की वाष्प जल-विदु का रूप ग्रहण कर लेती है और ऐसा मेघ सूर्य की किरणो के रास्ते मे पड़ जाता है तव प्रकाश की रश्मियो को विभिन्न घनत्व की

१—शिव, काम, कुमार, वृष, मयूर, भस्म, विष, सर्प आदि की व्याख्या 'शिव का स्वरूप' नामक अध्याय में की जायगी।

२—पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः।
सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः॥
नृत्यारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां।
शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या। मेघ० १।३६

सतहो मे से निकलना पडता है, जिसके कारण किरणे विखर जाती हैं और सूर्य के सातो रंग अलग-अलग दिखाई पडने लगते है। कवि को इस प्रकार सप्त पाताल से सत्य की कौड़ी निकालने की आकाक्षा नही। उसके लिए इद्रधनुप मे अद्‌भुत जादू है। विद्यमान पदार्थो मे जब उसे शोभा की उपमा न मिली तब उसने 'रत्नच्छाया व्यतिकर' की कल्पना की। परन्तु इस नई सूझ से भी उसे सन्तोष नही हुआ तब द्वापर युग के एक गोप के शृगार का घ्यान आया और 'भर्तु कठच्छविरिति' के समान अनत सौदर्य की व्यजना के लिए उसने लिखा—

येन श्याम वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
वर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेशस्य विष्णो.।

जिस समय विष्णु क्षीरसागर मे शेष-शय्या पर योगमाया के समाश्रय से चातुर्मास्य मनाते है, उसी समय मानो मेघ वाहरी संसार को उनके अभिराम रूप का पान कराते है।

मेघ को कालिदास ने इच्छानुसार रूप रखनेवाला (कामरूप) कहा है। वैज्ञानिक भी उसकी सर्वत्रविहारक्षमता को स्वीकार करता है। आकाश मे कभी वह तिरछा शोभित होता है, कभी लम्बा पड जाता है, और कभी पिछले भाग से लटकता हुआ जल पीने के लिए झुके हुए हाथी के समान जान पडता है। इस तिरश्चीन और दीर्घप्रसारित रूप मे उसे पृथिवी की ओर उतरने मे आसानी होती है। कभी तोयोत्सर्ग के कारण वह हल्का होकर द्रुतगति से आकाश मे रपटता चलता है।[1] कभी अन्तर्घनत्व के कारण मथर गति से मन्द-मन्द विचरता है। मेघदूत के मन्दक्राता छन्द और मेघ की मन्द गति मे प्राकृत सम्बन्ध है। यक्ष हृदय से चाहता है कि देश और काल दोनो का अत्यन्त अभाव हो जाय, अर्थात् उसका दूत क्षणमात्र मे ही अलकापुरी मे पहुँच जाय। किन्तु देश-काल से परिच्छिन्न मर्त्यो को इन दोनो की नियति का अनुशासन मानना ही पडता है। मेघ को आकाशमार्ग से जाते हुए न जाने कितने पर्वतो का व्यवधान पड़ेगा—

उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे मत्प्रियार्थ यियासो·।
कालक्षेप ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते ते॥ (मेघ० १।२२)

१—तोयोत्सर्गद्रुततरगतिस्तत्परं वर्त्म तीर्णः। मेघ० १।१९

अर्थात् कितने भी शीघ्र चलनेवाले तुम हो, मार्ग मे जितने पर्वत तुम्हारा मार्ग रोकने को खडे है उनके पास विना समय विताये आगे वढना सम्भव न होगा। किन्तु एक उपदेश हृदय मे रख लेना—

मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थ कृत्या । (१।३८)

भौतिक व्यवधान चाहे जो हो, अपने मन मे तुम मन्दोत्साह कभी मत होना।

यह देखी हुई बात है कि हल्के मेघो को हवा उडाकर तितर-वितर कर देती है। जिन मेघो मे गम्भीर जलराशि भरी होती है वे ही हवा के सामने डटकर वरसते है। थोथे और हल्के आदमी को गौरव नही मिलता। जिस सन्देश की व्यजना यक्ष चाहता है वह घने वरसने वाले मेघो से ही सम्भव है।

अन्त सारं घन तुलयितु नानिल. शक्ष्यति त्वा।
रिक्तः सर्वो भवति हि लघु पूर्णता गौरवाय ॥ (१।२०)

अर्थात् हे घन, तुम जल से भरे होगे तो आँधी तुम्हारा क्या बिगाड़ सकेगी ? वलवान् का लोहा सव मानते है। हल्को के लिए तो काल के अप्रतिवार्य वेग से वहनेवाले प्रवाह मे वह जाने के सिवा और गति नही है। 'अन्त.सारं' की व्यग्य-ध्वनि वडी सुन्दर है। मेघ की सज्ञा वृष कही जा चुकी है। वृष नाम रेत[1] या वीर्य का है। जो ब्रह्मचारी है, अर्थात् वृपसंपन्न होने से अन्त सारवान् है, वही प्राणायामरूप अनिल के धक्के को सह सकता है। वृप से रिक्त जनो को विपय-वात सदा घुमाया करता है; उनमे कुम्भक कृतकार्य नही होता। एक वात और भी जानने योग्य है। इद्र की सज्ञा ओक सारी है[2] अर्थात् वह जिसके ओक अर्थात् घर मे सार भरा है।[3] अलका का नाम वस्वोकसारा[4] पुरी है, अर्थात् वह

१—रेतो वै वृष्ण्यम् (शतपथ ७।३।१।४६)। आपो मे रेतसि श्रिताः (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१०।८।६), अर्थात् शरीर में जल की स्थिति रेत रूप से है।

२—ओकःसारी वा इंद्रः। ऐतरेय ब्राह्मण ६१७।३७

३—गृहा वा ओकः (ऐ० ब्रा० ८।२६)।

४—रघुवंश १६।१०; वसति वसुसम्पदां। कुमार सम्भव ६।३७; वसु ओकःसारी। मेघदूत में कहा है कि यक्षों के भवनों में अक्षय्य निधियाँ है (अक्षय्यान्तर्भवननिधयः)।

जिसके भवनो में वसुरूप सार है। मेघ इद्र का प्रधान पुरुष है, उसे अन्त.सारी होकर ही अलका मे पदार्पण करना चाहिए। इद्र का ही नाम वसु है।[1] इद्र शक्ति का जहाँ निवास है वही वस्वोकसारा पुरी है। मेघ विराट् प्रकृति के लिए वृषशक्ति का कोप है, अत. उसके लिए अन्त सार विशेषण साभिप्राय ही है।

वृष्टि की आवश्यक परिस्थितियो के लिए अनुकूल पवन भी आवश्यक है।[2] प्रतिकूल वायु जल भरकर चले हुए मेघो की धज्जियाँ उडा देती है। मेघ कैसे भी अभ्रत्वविशिष्ट हो, किंतु विना अनुकूल पवन की प्रेरणा के वे वृष्टि नही कर सकते। अतएव यक्ष के मेघ को मद-मद पवन प्रेरित कर रहा है—

मन्द मन्द नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वा। (१।६)

वृष्टि के लिए दूसरी आवश्यकता हरियाली है। वनो और जंगलों मे वाष्प फिर जल्दी ही जल रूप मे आ जाती है। कवि ने इस ओर भी सकेत किया है—

स्थित्वा तस्मिन्वन चरवधूभुक्तकुञ्जे मुहूर्त,
तोयोत्सर्गद्रुततरगतिस्तत्परं वर्त्म तीर्ण:।

अर्थात् आम्र-काननों के सघन कुंज मे जव तुम ठहरोगे तव वाष्परूप मे सचित तुम्हारा जल वहाँ वरस जायगा। इससे तुम हलके और द्रुतगामी हो जाओगे। रेवा के जवु कुंजो मे भी तुम वातवृष्टि हो जाओगे।

वृष्टि का तीसरा रहस्य यह है कि जव मेघ को ऊँचाई पर चढना पड़ता है तव उसका तापमान घट जाता है, फलत. जल वरसता है। माल-क्षेत्र के वर्णन मे ध्वनि द्वारा इसी तत्त्व की ओर सकेत है—

सद्य सीरोत्कपणसुरभि क्षेत्रमारुह्य माल
किंचित्पश्चाद् व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण। (१।१६)

यहाँ आरोहण के अनन्तर वृष्टि, और फिर फलस्वरूप लघुगति की ओर

१—स इन्द्रो वै देवानां वसुर्वीरो ह्येषाम्। (शतपथ १।६।४।२)। अर्थात् इन्द्र देवो के वसु हैं।

२—वृष्टि अनुकूल वायु के अधीन है—यां दिशं वायुरेति तां दिशं वृष्टिरन्वेति (श० ८।२।३।५)

ध्यान दिलाकर प्रच्छन्न रीति से उपर्युक्त प्रकार के 'अभिवर्षण'[1] का ही वर्णन किया गया है।

वृष्टि के बाद भूमि से सोंधी सुगंध निकलने लगती है—

दग्धारण्येष्वधिकसुरभि गन्धमाघ्राय चोर्व्या । (१।२१)

दावानल से जले हुए बनो मे जब मेघ अपने जल से पृथिवी की तपन बुझाता है तब भूमि मे से सुरभि गध का प्रादुर्भाव होता है। दावाग्नि से न जाने कितने सुगधित काष्ठ और हविष्य वनस्पतियाँ भस्म होकर पृथिवी मे मिल जाती है। ऐसे स्थान पर वृष्टि करके मेघ भी उच्छ्वसित गध से तृप्ति का अनुभव करेगा। दावानल को शात करने का पुरुषार्थ अकेले मेघ मे ही है- -

त्वामासारप्रशमितवनोपप्लव साधु मूर्ध्ना,
वक्ष्यत्यध्वश्रमपरिगत सानुमानाम्रकूट· ।

वास्तव मे मेघ समस्त संतप्त सृष्टि को शाति देनेवाला है। (सतप्ताना त्वमसि शरणं, १।७)

कालिदास मेघ की यात्रा मे सर्वत्र पानी के ही बरसने का वर्णन करते गए है, पर पहाड मे पहुँचकर अवस्था दूसरी हो जाती है। जहाँ थोडी वर्पा हुई, सरदी बढी और आकाशस्थ जल हिम के आकार मे बदल जाता है। इस कारण कर-कर ओले पडने लगते है। इसलिए कनखल के बाद ज्यो ही फिर वृष्टि का अवसर आया, जल ओलो के रूप मे बदल गया—

ये सरम्भोत्पतनरभसा. स्वाङ्गभंगाय तस्मिन्
मुक्ताध्वान· सपदि शरभा लघयेयुर्भवन्तम्।
तान्कुर्वीथास्तुमुलकरकावृष्टिपातावकीर्णान्
के वा न स्यु परिभवपद निष्फलारम्भयत्ना: ॥ (१।५४)

अर्थात् यदि शरभ मृग ऊपर कूदकर तुम्हे लाँघने का प्रयत्न करे तो उन्हें ओलो की मार से दल देना। इस श्लोक का आध्यात्मिक अर्थ बड़ा मनोहर है। मेघदूत मे जिस वृपशक्ति की मीमासा है उसकी दुर्धर्पता का इसमे प्रतिपादन है। काम को योग-सयम द्वारा वश मे करके साधना

१—सद्यस्तत्कालमेव सीरै. हलै: कषणेन कर्षणेन सुरभि घ्राणतर्पणं यथा तथा आरुह्य। तत्र अभिवृष्य इत्यर्थ:। (मल्लिनाथ)

मे अग्रसर होने का जो मार्ग है उसका निरादर करके, काम को विना जीते, जो लोग दूसरे मार्गो का अवलंवन करते है और सपाटे के साथ सिद्धि पर पहुँच जाना चाहते है, वे अत मे वृपशक्ति के अधोमुख पतन द्वारा अवकीर्णी अर्थात् खंडित ब्रह्मचर्य वाले हो जाते है। उनके सारे प्रयत्न निष्फल है। श्लोक का 'अवकीर्ण' पद दीपक की तरह सारे अर्थ का प्रकाश करता है। जो ब्रह्मचारी अपने व्रत से पतित हो जाते है वे अवकीर्णी कहलाते है। किसी भी प्रकार जो सप्तम धातु ओज का स्कदन करे वह अवकीर्णी है।[1] मनुष्य को वाजसपन्न (वाजी) वनने के लिए अर्थात् अपनी वाज (वृप) शक्ति को भीतर ही भर लेने के लिए एकरेत अर्थात् केवल ऊर्ध्वरेत ही होना चाहिए। यदि वह अपने समस्त पासुओ[2] या रेणु को स्वात्मा मे ही नही पचा लेता, तो वह पासुल या द्विरेता हो जाता है (शतपथ ब्राह्मण ४।५।१।१६)।

मेघ के आगम से जिस प्रकार वनस्पति और ओपधियाँ ऊर्ज के साथ वढती और वीर्यवती होती है, वैसे ही पशु भी आनदोद्रेक को प्राप्त होते है। चेतना की दृष्टि से वनस्पति, पशु, मनुष्य सव एक ही विश्व-व्यापी महाप्राण के पर-अवर भेद है। विराट् मेघ का प्रभाव सर्वत्र पडता है। चर-अचर जैसी काल्पनिक सीमाओ को पार करके एक ही चैतन्य के दर्शन कर लेने पर मेघ का सदेश सव के लिए चरितार्थ हो जाता है।

१—अवकीर्णी भवेद्गत्वा ब्रह्मचारी तु योपितम् (याज्ञवल्क्य)। ब्रह्मचारी योपाभिगमन करने से अवकीर्णी हो जाता है।
ब्रह्मचारी उपकुर्वाणको नैष्ठिकश्चेति योपितं गत्वा अवकीर्णं तत्तु यस्यास्ति सोऽवकीर्णी। (विज्ञानेश्वर)
स्त्री सम्पर्काद्विप्लुतब्रह्मचर्यः अवकीर्णी। (मनु, कुल्लूक)

२—पांसु=रेत=रेणु=वीर्य=वाज=वृष।

२

विराट् जगत्

हमारी दृष्टि प्राय: स्थूल जगत् के कार्यों तक ही परिमित रहती है। हमारे अनुभवो का लीला-क्षेत्र भी वही जगत् है। स्थूल वस्तु तो प्रकृति की सबसे अन्तिम और जड़ रचना है। उससे ऊपर सूक्ष्म कार्य-कलापों की अनन्त कोटियाँ है। प्रकृति का रहस्यमय जीवन सूक्ष्म ससार मे ही घटित होता है। उसके अनुभव करने के लिए अन्तर्मुखी होना आवश्यक है। हमारे ज्ञान की साधना पाँच इन्द्रियाँ है। उनकी प्रवृत्ति वहिर्मुख रहती है। उन इन्द्रियो से स्थूल ससार का बहुत ही परिमित ज्ञान मिल सकता है। विशेष के लिए केवल विज्ञानात्मक अनुभव अथवा ज्ञान-दर्शन ही काम दे सकता है। उदाहरण के लिए हमारी वीक्षण शक्ति से रूप का परिज्ञान होता है। इस ज्ञान के लिए सूर्य की प्रकाश-रश्मियाँ चक्षुरिन्द्रिय से सयुक्त होती है। विज्ञान के अनुसार इन रश्मियो का परिमाण वहुत ही सूक्ष्म[1] है। एक इच मे ये डेढ करोड़ से तीन करोड़ तक आ सकती है। वस्तुत; सूर्य से जितनी तरह की किरणे आती है वे वहुत अधिक है, उनका ग्रहण हमारी चक्षु इन्द्रिय से हो ही नही सकता। उनके ज्ञान के लिए हमे विज्ञान के अन्य उपायो से काम लेना पड़ता है। दूसरा उदाहरण सूक्ष्म जगत् की अनन्तता और एकता का यह है कि जो शब्द मन्द अथवा उच्च हम करते है, उससे वायु-मण्डल या आकाश में लहरियाँ उत्पन्न होती हैं, सपीपस्थ वायु मे सक्षोभ उत्पन्न होता है और यह वढता हुआ समस्त वह्माण्ड मे व्याप्त हो जाता है। इसी सिद्धान्त की

1—All the waves giving visible light are included between 16 and 30 millionths of an inch.

सत्यता का प्रमाण हमारा वेतार का तार है। इस यन्त्र द्वारा जिन विद्युत्-लहरों को उत्पन्न किया जाता है वे एक सेकण्ड मे हमारी पृथिवी के सात चक्कर कर जाती है। अर्थात् पृथिवी के किसी कोने मे शब्द हो, हम एक क्षण के भी सातवे हिस्से मे उसे सुन सकते है। यद्यपि ये विज्ञानानुमोदित सत्य हैं, परन्तु इनका परिज्ञान हमारी चक्षु या श्रोत्र इन्द्रियो को विना सूक्ष्म यन्त्रो की सहायता के नही हो सकता।

योग का सिद्धान्त यह है कि संसार मे जितने भी सूक्ष्मतम यन्त्र वन चुके हैं अथवा आगे कभी वनेंगे, उन सवसे सूक्ष्म और सचेतन मानुषी शरीर है। वस्तुत. मनुष्य का मस्तिष्क और उससे सम्वद्ध केन्द्रीय नाड़ी जाल (Central nervous system) के सूक्ष्म सस्थान, उनकी सक्रिय चेतनता और उत्तेजित्व का हमे आज तक वहुत ही कम ज्ञान है। इस दिव्य यन्त्र से विराट् ब्रह्माण्ड के स्थूल-सूक्ष्म सव ही कार्यों का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। आवश्यकता केवल उसे साधना द्वारा परिमार्जित और उद्ग्राही वनाने की है। फिर प्रकृति के निगूढतम रहस्य भी विज्ञान-सूर्य की भाँति इस शरीर द्वारा प्रकाशित हो जाते है। वाह्य यन्त्रो के आविष्कार से देश और काल पर विजय पाने के हमने जो साधन प्राप्त कर लिए हैं, वे सव इसी प्रकृति-समर्पित शरीर की साधना से भी प्राप्त किये जा सकते है। अतीन्द्रिय दर्शन और अतीन्द्रिय श्रवण तो वहुत ही सामान्य वातें है। विराट् ब्रह्माण्ड और शरीर का सम्वन्ध कल्पना की वात नही है, यह एक ध्रुव सत्य है जिसका अनुभव भारतवर्ष मे ऋषियो ने वहुत पहले ही प्राप्त कर लिया था। उसी की विधि योग-विद्या है। योग द्वारा ही हमारा ज्ञान विज्ञान-संमत हो सकता है। सवसे प्रशस्य ज्ञान का स्वरूप वही है जो सविज्ञान हो। गीता मे वड़े स्पष्ट शब्दो में इस सनातन तत्त्व का उपदेश किया गया है। 'योग को करके ही तुम मुझे अर्थात् ब्रह्म और ब्रह्माण्ड को समग्र जान सकते हो [गी० ७।१]'। यह समग्र या कृत्स्न ज्ञान क्या है, इसका उत्तर भी दूसरे ही श्लोक मे है—ज्ञान तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेपतः। अर्थात् समग्र का अनुभव जो योग और भक्ति द्वारा प्राप्त होगा उसमे ज्ञान और विज्ञान दोनो ही मिल जायँगे। और फिर कुछ जानना शेप नही रह जाता [यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते— ७।२]। इस प्रकार उच्च भूमिका मे विज्ञान और दर्शन [Intuition and Science] दोनो का समन्वय

है। प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करके ही परम तत्त्व का अनुभव करना सर्वोच्च और अमृत ज्ञान है। शक्ति से घटित और विघटित होने वाले परमाणुमय परिणामो और परिवर्तनशील विकारो के रूप मे जितना यह जगत् है उसके मूल मे निहित एकता को जान लेना ससार का सबसे महान् साध्य है। यह एकता सबसे सरल और सीधा ज्ञान है। जब तक हमारी उपपत्ति मे कुछ वक्रगति या पेच हो तब तक वह अतिम कोटि की नही कही जा सकती। एक वैज्ञानिक का वचन है······"the more general a natural law is, the simpler is its form (though it cannot always be said with certainty and finality which is the simpler form)···'मैक्सप्लैक।[1]

विज्ञान इस विश्वव्यापी एकत्व का अनुसन्धान बड़े वेग से कर रहा है, और यह देखकर चकित हो जाना पडता है कि विश्वसृष्टि और विश्व के आधार के विषय मे दर्शन और विज्ञान का सान्निध्य कितनी तीव्र गति से दिन-दिन बढ रहा है। स्थूल प्रकृति मूल मे परमाणुमय है। परमाणु की रचना सौर मडल से मिलती है[2], अर्थात् एक केन्द्र के चारो ओर

१—A Survey of Physics by Max Planck, p 164.

२—"The electrons circulate round this nucleus as planets circulate round a sun; and the spaces between nucleus and electrons are, comparatively, as vast as those between our planets."

—Marvels of Physics by Joseph Mocabe, p 45.

परमाणु के केन्द्र और इलैक्ट्रनों के बीच में सौर-मण्डल के समान ही अपेक्षाकृत बृहत अन्तरिक्ष या आकाश है। इसी अन्तरिक्ष (interelectronic space) के कारण हिरण्यगर्भ दशा से प्रकृति विराट् दशा में आती है। आध इंच गोल सोने के टुकड़े में यदि सब प्रोटोन ही हो और इलैक्ट्रन एक भी न हो, तो उस आध इंच हिरण्य का वजन ३० लाख टन होगा। यह हिरण्यगर्भ दशा प्रकृति की है। यह सूक्ष्म या तैजस अवस्था है। विराट् प्रकृति में अन्तरिक्ष या आकाश प्रकृति को स्थूल रूप देता है। उस दशा में उसकी संज्ञा वैश्वानर भी है। स्थूल वहिःप्रज्ञ (extrovert) और

ऋण विद्युत्कण बडी दुर्धर्ष गति[1] से घूमते है। बीच के केन्द्र मे घन-विद्युत् रहती है और उसी के बल पर ऋणविद्युत्कण[2] परमाणु के भीतर समत्व मे युक्त या निरुद्ध रहते है। परमाणु के अन्दर के ऋण और धन-विद्युत् (इलैक्ट्रन-प्रोटोन) वस्तुतः एक ही विश्वव्यापी शक्ति के दो रूप है। सृष्टि-प्रजनन के लिए आरम्भ मे ही प्रजापति ने आत्मदेह को द्विधा करके दो भागो मे उत्क्रात किया। विज्ञान ने इसे ऋण और धनविद्युत् कहा है। धर्म-ग्रन्थ इसे शिव-शक्ति, पुरुष-स्त्री, चन्द्र-सूर्य, प्राण-अपान आदि अनेक नामो और भावो से व्यक्त करते है। जो तत्त्व एक परमाणु को नियन्त्रित करता है वही विराट् ब्रह्माण्ड का भी नियन्त्रण करनेवाला है। इसलिए विराट्-जगत् मे भी जितने प्रजनन अथवा उत्पादनशील कार्य है उनका फल तब तक हो ही नही सकता जब तक पुरुष-योषित् अथवा ऋण-धन जैसे दो ध्रुव परस्पर मिथुनवान् न हो--मिथुनमुत्पादयते जगत्—इस कारण जिसे हम सामान्यतया जड जगत् समझते है, जैसे वनस्पति ओषधि आदि, उसमे भी पुरुष और स्त्री का भाव काम कर रहा है। मेघ यदि पिता है तो पृथिवी गर्भ धारण करने वाली उसकी योषित् है। जब तक दोनो का सम्मिलन न होगा, उनसे सम्भाव्य उद्भिज् आदि की उत्पत्ति नही होगी। मेघ आकाश मे स्थित होकर भी पृथिवी को प्रभावित करता है; सूर्य करोड़ो मील दूर होकर भी इस लोक में स्थित प्रकृति पर अपना प्रभाव डालता है। तात्पर्य यह कि हमे अपने स्थूल ज्ञान मे कोई चीज जड अथवा विच्छिन्न भले ही मालूम हो, वस्तुत. प्रकृति के मूल मे आश्चर्यजनक एकता है और जड-से-जड वस्तु भी शक्ति के उपरोक्त द्विविध द्वन्द्व से परिस्पन्दित होती है। इसलिए ही कवि निर्विन्ध्या और गम्भीरा आदि नदियों को मेघ की नायिका के

सूक्ष्म या तैजस प्रकृति अन्तःप्रज्ञ (introvert) होती है। इन दोनों से ऊपर प्रज्ञानघन (pure consciousness) अवस्था है, जहां समस्त प्रकृति चैतन्य रूप रहती है।

१—प्रो० बोहर का मत है कि हाइड्रोजन परमाणु का एक इलैक्ट्रन अपने केन्द्र के चारो ओर एक सेकण्ड मे ६००० खरब चक्कर काटता है। प्रकृति की कुक्षि मे कितनी शक्ति और चेतना है।

२—Electron ऋणविद्युत्कण, Atom परमाणु।

रूप मे देखता है। दोनो में पुं—स्त्री—अथवा धन और ऋण विद्युत् का सम्बन्ध है। परन्तु वह विराट् जगत् की एकता को समझ लेने से ही स्पष्ट हो सकता है।

चेतना

हम बहुधा प्रकृति को निष्क्रिय और अचेतन मान लेते है, वस्तुतः प्रकृति का एक-एक परमाणु बहुत ही उत्तेजनार्ह और चेतना-सम्पन्न है। इसी आश्चर्यकारी चेतना से स्तब्ध कुछ-एक वैज्ञानिक परमाणु (atom) को सजीव (organic) मानने लगते है। बर्गसन के शिष्य व्हाइटहेड की यही सम्मति है।[1]

सजीव और चेतन न कहते हुए भी हम इतना तो कह ही सकते है कि प्रकृति मूल में बहुत सक्रिय है और विद्युत् रूप में उसका विज्ञान-सम्मत प्रत्यक्ष प्रमाण हमे प्राप्त होता है। यह विश्वव्यापी चेतना ही प्राण रूप से संस्कृत-साहित्य मे वर्णित हुई है। प्राण प्रजाओ को धारण करता है। तीन लोक मे जो कुछ है सब प्राण के वश मे है—

प्राणस्येद वशे सर्व त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्

प्र० उ० २।१३

प्राण जलरूप से मेघो मे है, सूर्य की रश्मियो मे अग्नि रूप से है। सोमात्मक चन्द्रमा मे, इन्द्रियो मे, पशुओ मे, मनुष्यो मे, और अन्न तथा अन्न से समुद्भूत वीर्य मे सर्वत्र प्राण है। इसी आधार के द्वारा प्रकृति अपने नियमो को पूर्ण करके सृष्टि-कार्य चला रही है। वर्षा ऋतु प्राणो की एक बहिया है। इसी के संक्षोभ का वर्णन मेघदूत मे हुआ है। व्यक्तिगत प्राण और विराट् प्राण दोनो एक ही हैं। इसीलिए मेघदूत के यक्ष को अचेतन मे भी चेतन के दर्शन होते है, वह चेतन-अचेतन के

1—Future of Physics, p 45.

"Some writers have begun to treat the atom as though it were an organism, alive when the atom is excited, and dead when in a state of minimum energy. Thus Whitehead proposes that we should call the atom an organism, though this of course may only muddle us."

कल्पना-निर्मित भेदो को बिलकुल भूल गया है। (प्रकृतिकृपण' चेतना-चेतनेषु)।

प्राण सृष्टि के सब कार्यों का अधिष्ठाता है। इस प्राण की शक्ति का स्रोत शब्द ब्रह्म का सामगान है। आर्य-शास्त्र का यह बहुत गूढ सिद्धान्त है कि सृष्टि के सब रूप शब्द के स्पन्दन से उत्पन्न होते हैं। पर ब्रह्म की शक्ति शब्द के बल से अपने आप को सृष्ट करती है। जगत् के सब पदार्थों के अणु स्पन्दनशील (Vibrating) हैं। प्रत्येक स्थूल आकृति या रूप के पीछे उसका सगीत भी निहित है। इस सगीत के स्वरो को पहचानकर यदि हम नाद या ध्वनि उत्पन्न करें तो उस ध्वनि के द्वारा पदार्थ-विशेष के अणु सचालित हो जायँगे और फिर नाद के ही विपरिणाम से हम उन अणुओ का सस्थान[1] भी बदल सकते हैं। योगी या ऋषि प्रकृति के सगीत को प्रत्यक्ष देखते है। मन्त्रो के देवता या वर्ण्य-वस्तुओ के लिए छन्दोभेद करना अर्थात् विशेष-विशेष छन्दों का चुनना भी अणु-स्पदन के नानात्व पर ही निर्भर है। ध्वनि या सगीत वर्णात्मक शब्दो से स्वतन्त्र है। उसका सारा रहस्य छन्द मे है। इसलिए कहा जाता है कि अमुक छन्द से अमुक कार्य हो सकता है, जैसे कहा है कि वसु गायत्री छन्द से तुम्हे पवित्र करे [ताड्य ब्रा० १।२।७]। इस वाक्य का अर्थ तब तक हम सफल नही कर सकते जब तक गायत्री छन्द के सगीतात्मक स्वरो का हमे परिज्ञान न हो। वस्तुत: वेद सम्बन्धी ज्ञान या स्वाध्याय के सब विषयो मे छन्द शास्त्र का ज्ञान सबमे अधिक गूढ और कठिन है। ब्राह्मण और उपनिषदादि ग्रन्थो मे तथा स्वय वेदो मे भी छन्दो की महिमा और कार्य के जो वर्णन है, उन्हे हम अपनी अज्ञ अवस्था मे बालिश बुद्धि का उद्गार-मात्र समझकर सतोष कर लेते हैं। ऋग्वेद में कहा है कि वाचक शक्ति के चार पाद या चार अवस्थाएँ है; मनीषी ब्राह्मणो को उनका ज्ञान या अनुभव रहता है। तीन पाद पिण्ड या ब्रह्माण्ड की गुहा मे निहित रहते हैं अर्थात् सूक्ष्म होने से प्रत्यक्ष के विषय नही, केवल चतुर्थ पाद मे वाक् मनुष्य की वागिन्द्रिय से व्यक्त

१—संस्थान—Structure या arrangement

होती है ।[1] माण्डूक्य उपनिषद के अनुसार आत्मा चतुष्पात् है । उन चार अवस्थाओं के नाम ये है—तुरीय-सुषुप्ति-स्वप्न जाग्रत् या आत्मा-प्राज्ञघन-तैजस-वैश्वानर । वाणी के चार पाद भी इन्ही से संबद्ध है ।[2] उनके नाम है—परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी । परा वाक् अभिन्न (undifferentiated) अवस्था है अर्थात् वहाँ वाणी के स्वरात्मक प्रपंच का उपशम रहता है । उसके अनन्तर पश्यन्ती के क्षेत्र मे विराट् और पिण्डस्थ[3] सामगान प्रत्यक्ष हो जाता है । इसी साधना को प्राप्त योगी के विषय मे कहा जाता है कि वह छन्द के दर्शन करता है । मध्यमा अवस्था या अनाहत चक्र (dorsal region) मे वाणी की सूक्ष्म ध्वनि सुन पडती है, यही अनाहत-नाद-श्रवण है । श्रवण दर्शन मे स्थूल है । चौथी दशा वैखरी या जाग्रत् है जब आत्मा की तरह शब्द भी वहिप्रज्ञ हो जाता है । ये शब्द जब कण्ठ और मुख के द्वारा स्वर और व्यजन रूपो मे उच्चरित होते है, तब वे शरीर के अन्तस्थ समस्त नाडी-जाल को निनादित और अनुध्वनित करते है । प्रत्येक अक्षर का सबध पृथक्-पृथक् नाडी-गुच्छो या चक्रो से है । जब उस वर्ण का उच्चारण होता है तब उस चक्र की समस्त नाडियाँ, जो उस चक्र से वाहर की ओर फैलती है (efferent nerves) तथा जो शरीर से उस चक्र मे केन्द्रित होती है (afferent nerves), अनुप्राणित होकर स्पन्दन करती है । इसके अतिरिक्त चक्रो

१—चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मण ये मनीषिणा ।
गुहा त्रीणि नेङ्गयन्ति तुरीयवाचो मनुष्या वदन्ति ॥
—ऋ० १।१६४

२—निम्नलिखित कोष्ठ से यह सम्बन्ध अधिक स्पष्ट प्रतीत होगा—

परा	तुरीय	आत्मा	ब्रह्म
पश्यन्ती	सुषुप्ति	प्राज्ञ	ईश
मध्यमा	स्वप्न	तैजस	हिरण्यगर्भ
वैखरी	जाग्रत्	वैश्वानर	विराट्

३—विराट्—Macrocosm ब्रह्माण्ड
वामन—Microcosm पिण्ड
विराट् वामन से परिमित है; जो वामन है वही विराट् है—यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे । विराट् सहस्रपाद् और वामन दशांगुल है ।

को परस्पर मिलाने वाली नाडियाँ (intracentral nerves) भी अनुध्वनि (Sympathetic vibration) से युक्त होकर स्पन्दित होती है। इस प्रकार मनुष्य देह और बाह्य जगत् का घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक अक्षर शरीरस्त समस्थ नाडी-जाल पर प्रभाव डालता है, तथा बाह्य जगत् मे उसी की लहरे ब्रह्माण्ड के ओर-छोर तक पहुँचती हैं।

इतना सूक्ष्म सम्बन्ध इस ससार के रोम-रोम मे परस्पर है। इस रोचक विषय की व्याख्या द्वारा हम यह दिखाना चाहते है कि मेघ का आगम भी एक साम-सगीत है। 'मेघ के मरुत्सलिल-ज्योति सम्पन्न मूर्त आकार के आकाश मे आने से पहले पूरे वर्ष-भर तक प्रकृति अपना स्पदनात्मक सगीत जारी रखती है। सूर्य, चद्र, इंद्र, वायु, वरुण, पृथिवी, द्यौ, अतरिक्ष सब ही एकमना होकर मेघ को सम्भृत करने मे प्रयत्नशील रहते है। अत मे सबके सम्मिलित उद्योग से मेघ आकर वृष्टि करते है। यज्ञ द्वारा मनुष्य भी उस विराट् मेघ-साम मे भाग ले सकते है। यदि उपरि-निर्दिष्ट शक्तियो मे से कोई भी अपना काम व्यवस्था के अनुसार पूर्ण न करे तो मेघ के समुदय मे विघ्न पडेगा और फिर प्रजाएँ प्रजनित न हो सकेगी। इस तरह प्रत्येक शक्ति किसी-न-किसी रूप मे प्रजाओ का पालन करने मे भाग लेती है। वही उसका प्रजापति रूप है। ब्राह्मण-ग्रन्थो के समस्त प्रमाणो को यहाँ उपन्यस्त करना सभव और आवश्यक भी नही है, केवल इतना जान लेना चाहिए कि विराट् दृष्टि वाले ऋषियो ने सृष्टि के इस प्राजापत्य तत्त्व पर अति सूक्ष्म विचार किया था और तदनुसार ही उन्होने सवत्सर-प्राण-सोम-चद्र-सूर्य-अग्नि-वायु-रुद्र-वसु-मित्र-अन्न-हिरण्यगर्भ-ब्रह्मा-स्वर-साम-यज्ञ आदि प्रकृति के पदार्थो को प्रजापति नाम से पुकारा है।[1] आधुनिक समय मे इन नामो

१—स्त्री-पुरुष के विवाह के अवसर पर गृह्य-सूत्र और स्मृतियो ने प्राजापत्य यज्ञ करने की आज्ञा दी है। यह यज्ञ प्रजा-तंतु-संवर्धनानुकूल-व्यापार-सिद्ध्यर्थ-प्रयत्न-विशेष ही है। पुरुष भी प्रजापति है [श० ६।२।१।२३]। पुरुष प्रजापति कर्म के करनेवाली शृंखला मे सबसे सन्निहित या निकट की कड़ी है। [पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्—श० ४।३।४।३]। उसके अनंतर गर्भाधान अर्थात् प्रजनन-रूप प्रजापति [प्रजननं प्रजापतिः—श० ५।१।३।१०] और

से विवाद करने की आवश्यकता नही है। प्रत्येक सभ्यता अपने विचारों को प्रकट करने के लिए अपना कोष और अपनी भाषा बनाती है, जो उसके अनुयायियो को अपने सस्कारो के कारण अत्यत सुबोध और अर्थगर्भित प्रतीत होते है। सभ्यता को अमर बनाये रखने मे जीते-जागते निरुक्त-शास्त्र का सबसे प्रमुख भाग है। यदि निरुक्त जड अथवा मूक-बधिर हो गया, तो फिर प्राचीन सस्कृति के गहन तत्त्वो को उसके उत्त-राधिकारी ही नही समझते; औरो की तो कथा ही क्या है ? इस सभ्यता ने भी अपने ज्ञान की अभिव्यक्ति के लिए अपनी विशेष परिभाषा रच

फिर योषा में प्रजोत्पत्ति—यही क्रम है। मनुष्य शरीर की जमदग्नि (जमत्+अग्नि=metabolic force) या तनूनपात् (जिसके कारण शरीर का पात नहीं होता) अग्नि का नाम भी प्रजापति है। तनूनपात् अग्नि की स्थिति के अवधि-काल तक ही प्रजा-संवर्द्धन सम्भव है। शरीर में च्यवन-प्रक्रिया (senility या anabolic process) आरम्भ हो जाने पर घटक कोष आत्मसंरक्षण ही कठिनता से कर पाते है। ह्रसित शक्ति के कारण प्रजासंवर्द्धन (generation या external reproduction) च्यवन-शील कोषो के लिए असम्भव ही है। हाँ, प्राणायाम और आयुर्वेद के शास्त्रविहित उपचारों से च्यवन को पुनः अनुप्राणितः करके यौवन प्राप्त कराया जा सकता है। च्यवन ऋषि और अश्विनीकुमारों की सुन्दर कथा में इसी यौवन-प्राप्ति के तत्त्व का उपदेश है। प्राण-अपान का नाम अश्विनी है। अश्विनीकुमार देवों के वैद्य हैं, अर्थात् प्राणायाम द्वारा पुनर्यौवन-संप्राप्ति दिव्य चिकित्सा है। आयुर्वेद के उपचारों से रोगनिवारण मानुषी है। और शल्य-क्रिया छेदन-भेदन आदि आसुरी कोटि है। शारीरिक कोषो (cells) की च्यवन-प्रवृत्ति को रोकने के लिए प्राणायाम या अश्विनी-चिकित्सा सर्वश्रेष्ठ प्रतिकार है। योग-लब्ध आरोग्य का प्रथम रूप यह है—न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्। शरीरमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादात्स्वरसौष्ठवं च। गंध शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदंति॥ —श्वे० उ० २।१३

ली है और उसके मनीषी जनो के विमर्श उन्ही पारिभाषिक वसनों से सज्जित होकर हमारे सामने आते हैं। हमें उचित है कि भारतवर्ष के प्राचीन विचारो को उसी के निरुक्त-शास्त्र द्वारा उदारता, सहृदयता और धैर्य से समझने की कोशिश करे। तब हमे यह विदित होगा कि जीवन मृत्यु, यौवन-जरा, सृष्टि-विसृष्टि, प्रकृति-पुरुष, सत्-असत्, सुख-दुःख, प्रवृत्ति-निवृत्ति, चित्-अचित् आदि पराविद्या के उत्कृष्टतम विषयों पर भारतवर्ष ने जो प्रकाश डाला था, वह आधुनिक मनीषी विप्रो की उलझनो को भी बहुत अश मे आलोकित करने मे समर्थ है। भारतीय सस्कृति के विचारो का बाह्य परिधान मात्र जीर्ण-सा हो गया है। उस देह मे रहने वाली आत्मा शाश्वत और सनातन है, क्योकि वह सत्यात्मक होने से कालातीत है।

यह जगती पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक-रूप तीन भागों में कल्पित है। स्थूल पृथिवी, जल और अग्नि का कार्य पृथिवी-भाग पर होता है। वायु और आकाश के कार्य अन्तरिक्ष लोक मे घटित होते हैं। इन दोनों लोको अथवा पाँचों तत्त्वो के कार्य-क्षेत्र से ऊर्ध्व कोटि की सूक्ष्मता-सम्पन्न द्युलोक है। प्रत्येक ग्रह और उपग्रह के लिए यही तीन विभाग हैं। पंच तत्त्वों के कार्य जो सर्वग्रहो मे देखने में आते हैं वे तत्रस्थ पृथिवी और अन्तरिक्ष मे ही होते हैं, परन्तु उन सबका विराट् मन (Cosmic sensorium) द्युलोक मे रहता है। मनुष्य देह के उदाहरण से यह बात अधिक स्पष्टता से समझ मे आ सकेगी। इस देह मे छः चक्र है; उनके नाम ये है—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा और उससे सम्बद्ध सहस्रार। इनमे से प्रथम पांच का अधिष्ठान मेरुदण्ड (Vertebral column) में है और प्रत्येक मे क्रमश. एक-एक महाभूत और उसकी तन्मात्रा का केन्द्र है। छठे और सातवे चक्र में मन और बुद्धि का अधिष्ठान है। वह शरीर-भर के समस्त नाड़ी-जाल का सज्ञान-केन्द्र (sensorium) है। शरीर के किसी अंग मे घटना होने से उसकी सूचना पहले केन्द्राभिमुखी नाडियो (afferent या centripetal nerves) के द्वारा उस अग से सम्बन्ध रखने वाले केन्द्र (power-centre या plexus) मे पहुँचती है। वहाँ से वह सूचना विराट् सज्ञा-केन्द्र अर्थात् मस्तिष्क में पहुँच जाती है। मस्तिष्क से जब कोई आज्ञा प्राप्त होती है तब पहले वह मेरुस्थ केन्द्र में आती है और

वहाँ से केन्द्र बहिर्गत नाड़ियो (efferent या centrifugal nerves) के द्वारा शरीर के अंगो मे पहुँचकर तत्रस्थ मास-पेशियो को उत्तेजित कर देती है। इस नर देह मे तीन प्रकार की नाडियाँ है, जिनका वर्णन ऊपर हो चुका है, अर्थात् efferent, afferent और intracentral इन्ही के द्वारा हमारे सब काम होते है। इनका सम्बन्ध मस्तिष्क से है। इसका निष्कर्ष यह है कि जब तक मस्तिष्क और केन्द्र तथा विविध अगो का परस्पर सहयोग न होगा कोई कार्य पूर्ण नही हो सकता। इन्ही के विकार के कारण नाना प्रकार के रोग प्रादुर्भूत होते है।

जो तत्त्व या नियम मनुष्य-शरीर मे काम करते है वे ही विराट् जगत् मे भी देखे जाते है। आधुनिक जगत् के अत्यन्त प्रसिद्ध वैज्ञानिक और रायल-सोसाइटी के मन्त्री श्रीयुत जीन्स ने इसी बात को स्पष्टतया स्वीकार किया :

"Thus the distinguishing characteristic of the laws which govern the most minute processes in nature is transmitted directly into the large scale phenomena of astronomy and governs the distribution of the huge masses of the stars."[1]

अर्थात्, जो नियम प्रकृति के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अणु-परमाणु और विद्युत्कणो मे काम करते है, वे ही अपनी विशिष्टताओ सहित महान्-से-महान् नक्षत्रो तथा आकाश-मडल के विराट् जगत् मे भी काम करते है। जीन्स महोदय ने यह सम्मति क्वेन्टम डायनैमिक्स के प्रसग मे दी है, परन्तु इसका निष्कर्ष भारतीय शब्दो मे यही है—यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।

इस प्रकार यह बात निश्चित जाननी चाहिए कि इस महान् जगत् के जो तीन भाग ऋषियो ने किये है अर्थात् पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ, या भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, उन तीनो के परस्पर समन्वयपूर्वक कार्य करने से ही हमारी पृथिवी के सब काम पूर्ण होते है। मनुष्य-देह मे मस्तिष्क सबसे सूक्ष्म और सचेतन है, समस्त स्थूल कार्यो का सूत्रपात प्रथम वही होता है; इसी प्रकार ससार मे द्युलोक अत्यन्त सूक्ष्म और

1—Eos or the Wider Aspects of Cosmogony—Today and Tomorrow Series

सचेतन है। पृथिवीस्थ समस्त अनुभवो और कार्यो का आरम्भ द्युलोक से ही होता है।

ब्राह्मण ग्रन्थो मे इन तत्त्वो का विशद विवेचन है। मेघ की उत्पत्ति द्यावा-पृथिवी दोनो के सहयोग से होती है—

यदा वै द्यावापृथिवी सजानातेऽथ वर्पति —शतपथ १।८।३।१२

अर्थात्, जब द्युलोक और पृथिवी दोनो समनस होते है तभी वृष्टि होती है। उस वृष्टि से अन्न उत्पन्न होता है। उस सस्य की सम्पत्ति के लिए कौन उत्तरदायी है? प्रत्यक्ष रूप मे इसका श्रेय पृथिवी को है, परन्तु यथार्थ मे द्यावा-पृथिवी दोनो ही अन्न उत्पन्न करते है—

द्यावा पृथिवी वै सस्य-साधयित्र्यौ —कौपीतकी ब्रा० ४।१४

सूक्ष्म जल पहले द्युलोक मे सम्भृत होते है, तब पृथिवी की आकाक्षा से अन्तरिक्ष मे उनका विस्तार होता है। उपनिपदो मे स्पष्ट कह दिया है कि वृष्टि एक प्रकार का साम-संगीत है। कालिदास ने मेघ को साधु पदवी दी है। छान्दोग्य के अनुसार जो वस्तु साधु है वही साम है, अर्थात् ब्रह्माण्ड के प्रत्येक रोम से निकलने वाले सगीत या प्राण-स्पन्दन के अनुकूल है। जो असाधु है उसमे उस विराट् साम के साथ स्वारस्य नही है।[1] मेघ का तत्त्व भी शक्ति का एक प्रकाश है। चराचर व्याप्त शक्ति की अनुकूल प्रेरणा से ही सब कार्य सिद्ध होते है। प्राण का ही स्थूल रूप अन्न है अथवा अन्न का ही सूक्ष्म अंश प्राण है। अन्नमय कोप की पवित्रता से ही प्राणमय देह पुष्ट होती है और इन्द्रियो के तेज का सवर्द्धन होता है। दोनो ही विद्युत् शक्ति के दो भेदो के समान हैं। अन्न की पुष्टि के लिए मेघ आवश्यक है। ऋषि देखता है कि मेघ की समस्त गति-विधि सृष्टि के कितनी अधिक अनुकूल है, इसीलिए प्रसन्न होकर वह आदेश देता है कि सौम्य भाव से मेघ या वृष की उपासना करो—

वृष्टौ पचविध साम उपासीत। पुरो वातो हिकार, मेघो जायते स प्रस्ताव', वर्पति स उद्गीथ', विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार । १ । उद्गृह्णाति तन्निधन वर्पति हास्मै वर्पयति ह य एतदेव विद्वान् वृष्टौ पचविधं

१—ओ३म् समस्तस्य खलु साम्नः उपासनं साधु, यत्खलु साधु तत्सामेत्याचक्षते, यदसाधु तदसामेति—छा० उ० २।१।१

साम उपास्ते—छा० उ० २।३ ।[1]

अर्थात्, यह जो गगन मे मेघमालाओ का सप्लवन और उनमे जल का प्रस्रवण है, यह कैसा अद्भुत कर्म है। अवश्य किसी अनुकूल प्रेरण से ही यह मेघ-सगीत प्रवृत्त होकर सबको आनन्द देता है। वृष्टि से पहले जो वायु चलती है, बडे तूफान आते है, वह मानो हिकार है।[2] मेघों का एकत्र होना वृष्टि का प्रस्ताव है। बरसना उद्गीथ है, बरसते हुए विद्युत् का चमकना और गरजना प्रतिहार है; तथा वर्षा की समाप्ति निधन है। इस प्रकार जो वृष्टि के सगीत को जानता है, ये मेघ उसी के लिए बरसते है और वही इनको बरसाता है। जिस कवि ने मेघ के विराट् स्वरूप को भली प्रकार समझ लिया था उसी के निकट मेघ के मौन मे भी सदेश-कथन की सामर्थ्य है। उसके लिए मेघ एक देशीय और विविक्त कार्य नही, वह धाम-धूम-नीरो का विच्छिन्न टुकडा नही जो बरस कर चला जाय, बल्कि सारी प्रकृति का काम-रूप पुरुष है। इस स्वरूप का विशेष विवरण आगे के अध्याय मे किया जायगा।

ऊपर कहा गया है कि सवत्सर एक प्रजापति है। हमारी पृथिवी पर काल सवत्सरो से सम्मित होता है। एक सवत्सर काल के परिवर्तनो का पूर्ण प्रतिनिधि है। प्रकृति को पृथिवी पर जितना कार्य-सपादन करना होता है उस सब का चक्र एक वर्ष मे समाप्त हो जाता है। मानवी आयु शैशव से जरा तक विस्तीर्ण एक महापथ है जिसकी यात्रा सवत्सर-रूप पदो के द्वारा पूर्ण की जाती है। इस प्रजापति के तीन मुख्य भाग है—वसन्त, ग्रीष्म और शरद्। इन तीनो ऋतुओ के समाहार से प्रकृति प्रति वर्ष अपने बाल, यौवन और जरामर्य चक्र मे घूम जाती है। वसन्त ऋतु

१—और भी देखो—छा० उ० २।१५।

२—हिकार इत्यादि सामवेद के गाने के पॉच भाग है। इनका विशेष विवरण छन्दोग श्रोत्रिय और वैदिक-संगीत के विशेषज्ञो का विषय है। गाने के शुरू में हावु हावु करना हिंकार है। प्रारम्भिक शब्दो का उच्चारण प्रस्ताव है, मध्य का भाग उद्गीथ है, दन्त्याक्षरों के उच्चारण मे जिह्वा का दन्ताग्र से कर्कश स्पर्श प्रतिहार है तथा साम का अन्त निधन कहा जाता है।

मे प्रकृति से ऊर्ज[१] की धारा निकलकर वनस्पति जगत् को पुष्ट करने लगती है। मनुष्यायु का वसन्त भाग ब्रह्मचर्य आश्रम है जब शरीर के रोम-रोम से रेतरूप घृत[२] की धार निकलने लगती है। यह परमावश्यक है कि ग्रीष्म मे तप सकने के लिए हम वसन्त के घृत को सचित कर रक्खे। यौवन या ग्रीष्म-काल तेज की अभिव्यक्ति का समय है। यह कहा गया है कि तपता हुआ सूर्य और कुछ नही है, वह केवल स्नातक का मुख है, जो ब्रह्मचर्यकाल मे ढका हुआ तेज सचय कर रहा था और अब आयु के मध्यभाग मे अपने वर्चस् और भर्ग के साथ प्रकाशित हो गया है। जिसने इन दो अवस्थाओ को अथवा मनुष्यायु रूप शतसावत्सरिक यज्ञ के दो सवनो को सफलतापूर्वक पार कर लिया है, वही आयु के सायं-सवन या शरद् ऋतु मे प्रवेश करता है, जब उसकी सुगन्धि दिशा-विदिशाओ मे फैल जाती है।[३] गृह्यसूत्रो मे एक सुन्दर प्रार्थना दी है जिसमे कहा गया है कि सवत्सर-प्रजापति के ऋतु-रूप-स्तनो से जो धायस् या पुष्टिकर आर्तव या दूध निकलता है, उसे हम आयु और तेज की वृद्धि के लिए अपने शरीर मे ही रख छोडे।[४]

१—ऊर्ज के अर्थ रस और अन्न भी हैं। ऊर्ज=पोषक रस (ऊर्ग्वै रसः शतपथ ५।१।२८)। यह ऊर्ज वस्तुतः वृष्टि से ही प्राप्त होता है [ऊर्जेत्वेति यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह—श० १।२।२।६] जल का ही पुष्ट और सारवान् रूप ऊर्ज है (आपो वा ऊर्जोऽद्भ्यो हि ऊर्ग् जायते—शतपथ ६।४।१।१०)। वनस्पति जगत् में ऊर्ज का संचय ही उनकी वृद्धि का कारण है।

२—रेत-घृत-आज्य ये समानार्थक हैं। रेतो वै घृतं—श० ६।२।३।४४ रेत आज्यम्—श० १।३।१।१८

३—वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म ईध्म शरद्धविः—ऋग्वेद पुरुषसूक्त। छान्दोग्य उपनिषद् मे पुरुष को यज्ञ कहकर इस भाव की बड़ी मनोहर और विशद विवेचना है कि किस प्रकार महिदास ऐतरेय के अनुसार आयु के तीनो भागो या सवनो को पार कर हम ११६ वर्ष की आयु प्राप्त कर सकते है।

४—ऋतुभिः त्वा आर्तवै आयुषे वर्चसे।
संवत्सरस्य धायसा तेन सन्ननुगृह्णासि—हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र
धायस्=वनस्पति का सार पोषणात्मक रस।

पंचम्याम् आहुतौ आप· पुरुपवचसो भवन्तीति ।५।३।३। अर्थात् सृष्टि में वह कौन सा क्रम है जिसके अनुसार पाँच आहुति मे पडते हुए जल अन्त मे पुरुपसज्ञक हो जाते है ? प्रवाहण जैवलि ने अत्यन्त विस्तार से इस पंचाग्नि-विद्या का विवेचन किया है। इसके देखने से मेघ की महिमा और फिर मेघागम के वाद स्त्री-पुरुप के सम्मिलन की नितान्त आवश्यकता का अनुभव होता है। स्त्री-पुरुप का गर्भ-धारण प्रजोत्पत्ति की अन्तिम स्थूल सीढ़ी है, परन्तु इस गर्भधारण का आरभ द्युलोक से होता है। ऊपर कह चुके है कि द्यौ हमारी पृथिवी के लिए मन और वुद्धि का विराट् केन्द्र (Cosmic sensorium) है। सव कामो का सूत्रपात वहीं होता है। द्युलोक और पृथिवी के समनस होने से पुंस्त्व-लक्षण प्राण की वृद्धि होती है। यह प्राण ही अह. है। इसके फलस्वरूप सूर्य के ताप से द्युलोक और पृथिवी की गर्भ-धारण-क्षमता (Etherial fecundity) वृद्धि को प्राप्त होती है। इसी गर्भाहिता का नाम सोमराजा है। द्यावा-पृथिव्योर्वा एप गर्भो यत्सोमो राजा (ऐतरेय ब्राह्मण १।२६), अर्थात् द्यावापृथिवी के गर्भ को सोमराजा कहते है। स्त्रियो को भी गर्भयोग्य शौच की प्राप्ति सोम से ही प्राप्त होती है (सोम शौचं ददावासा-याज्ञवल्क्य स्मृति)[1], द्यावापृथिवी को यह सोम श्रद्धा की आहुति से प्राप्त होता है। श्रद्धा नाम निष्कपट सूक्ष्म और सुमनस्यमान भावना का है। जलो की भी सज्ञा श्रद्धा है।

इस प्रकार सूक्ष्म अव्यक्त गर्भपोपण की सामर्थ्य सम्पन्न हो जाने पर पर्जन्य मेघ कार्य करता है। अन्तरिक्ष मे मेघ और विद्युत् के प्रचण्ड होने से वृष्टि पृथिवी पर आती है। वृष्टि की धारा के लिए मेघ वे स्तन है जिनसे जल-रूप दूध निकलता है। विद्युत् भीतर-ही-भीतर जल को मातृ· भावना से सचित और स्रवित करनेवाली सर्वलोक की धाय है। वह मेघ के अंक मे पत्नी रूप से विराजती है और इस तरह वृष्टि-कार्य के लिए आवश्यक पुं-स्त्री रूप मिथुन की पूर्णता होती है।

वृष्टि-जल के पृथिवी पर आने के वाद सवत्सर रूप प्रजापति के

१—सोम स्त्रियो का पहला पति है; तदनन्तर मनुष्य है—
सोम शौचं ददावासां गन्धर्वश्च शुभां गिरम्।
पावकः सर्वमेध्यत्वं मेध्या वै योषितो ह्यतः ॥

और अधिक कार्य द्वारा उससे अन्न की उत्पत्ति होती है। प्राण का ही मूर्तरूप अन्न है। अन्न में सब तत्त्वों का अधिष्ठान है। यह अन्न (भोग-सामग्री) पुरुष मे जाकर रेतरूप मे परिणमित होती है। और अन्ततोगत्वा योषित् अर्थात् रयि-शक्ति-प्रधान व्यष्टि मे उस रेत के निषिञ्चन से गर्भ की सभूति होती है। इस प्रकार जल पाँचवी आहुति के बाद पुरुष सज्ञक हो जाते है।

विराट् जगत् के कार्य अनन्त और अत्यन्त सूक्ष्म है। उनमे शक्ति के नाना रूपो की प्रकृति-विकृति देखने मे आती है। मेघदूत काव्य मे कवि का द्विविध कौशल व्यक्त हुआ है। एक ओर उसने मेघागम से प्रकृति के नाना सक्षोभो का वर्णन किया है, दूसरी ओर उस कामात्मिका शक्ति को अलका के उस लोक मे पहुँचाया है जहाँ शिव का साक्षात् निवास है। इस अध्याय मे वर्णित जगत् के विराट् या समष्टि सस्थान का ज्ञान हो जाने पर कामरूप पुरुष और शिव का स्वरूप नामक आगे के अध्यायो को समझने मे सुविधा होगी।

सवत्सर के इस धायस् का अधिकाश भाग पृथिवी को वर्षाऋतु मे ही प्राप्त होता है। यह धायस् जल का ही प्रकृष्ट रूप है। जल से ही श्रोषधियाँ श्रौर श्रन्न पुष्ट होते है—

श्रोपधय उ ह्रपा रस -श०—३।६।१।७। श्रन्न से ही रेत या श्राज्य की उत्पत्ति होती है। (रेतो वा श्रन्नम्[1])—वनस्पतियाँ भी श्रन्न ही है, ये श्रोपधियाँ वर्षा ऋतु मे ही वीर्यवती होती है। शरद् मे उनका परिपाक होता है। रेत-श्राज्य-घृत-श्राप् से ही मिलता हुश्रा वाज शब्द है। वाज के श्रर्थ भी श्रन्न-वीर्य-श्राप् श्रादि के है।[2] वाज को शरीर में ही पचा लेने या श्रात्म-वीर्य को शरीर-कोपो मे ही सम्भृत कर लेने का नाम वाजपेय है।[3] सब प्राणियो के लिए वाज एक पेय है जिसका समय पर पान करने से श्रमरपन[4] प्राप्त होता है। जिसने इस वाज को विज्ञानपूर्वक श्रपने श्राप मे भर लिया है वही भरद्वाज (भरद्+वाज) बन जाता है। ब्रह्मचर्य श्राश्रम वाज की उपासना या वाजसनि के लिए (सनि = उपासना) सर्वोत्तम समय है, उसमे उत्तीर्ण हुश्रा मनुष्य ही वाजसनेयी होता है। प्रकृति के श्रन्दर ऋतुएँ सब वाजवती है[5], श्रोपधिया भी श्रपने वाज को पीती है[6]; श्रग्नि-वायु-सूर्य सभी पूर्ण वाजपेयी है।[7] उप देवी वाज के महान् भण्डार

१—गोपथ पूर्वभाग ३।२३।

२—वीर्य से वग्जाः—श० ३।३।४।७।
श्रन्नं वै वाजा —श० ३।३।४।७।
श्रन्नं वै वाजपेय —तै० १।३।२।४

३—ब्राह्मणों को बृहस्पति-सव श्रर्थात् ज्ञान-यज्ञ से पूर्व वाजपेय करने की श्राज्ञा है। क्षत्रियो को राजसूय श्रर्थात् राष्ट्र-संरक्षण से पूर्व वाजपेय यज्ञ करने की श्राज्ञा है।

४—सोम नाम श्राध्यात्मिक श्रमृत का है। वाजपेय करने से शरीर के प्रत्येक कोप को सोम-श्रमृत की प्राप्ति प्रत्यक्ष है। सोमो वै वाज-पेय—तै० १।३।२।४

५—ऋतवो वै वाजिनः—कौषीतकी ब्रा० ५।२

६—श्रोषधयः खलु वै वाजाः—तैत्तिरीय ब्राह्मण—१।३।७।१

७—श्रग्निर्वायुः सूर्यः। ते वैवाजिनः। ये ही तीनो पृथिवी-श्रन्तरिक्ष-द्युलोक के श्रधिपति है। भूर्भुवः स्वर्लोकों से भी इनका सम्बन्ध

के कारण वाजिनी है[1], वह रात्रि-समय मे वाज या प्राण से रिक्त हुए अन्तरिक्ष के उदर को प्रातःकाल होने पर पुन: वाजपूर्ण कर देती है।

इस वाज, घृत, धायस् या प्राण का अधिकाश भाग वर्षा ऋतु में प्राप्त होता है। वर्षा-काल जलाप्लावन का समय है। यह ऋतु प्रकृति के प्रवाह के लिए अत्यन्त महत्त्व की है। वस्तुत. प्रजाओ की अभिवृद्धि वर्षा-काल पर ही निर्भर है। जिस प्रकार विराट् प्रकृति मे वर्षा ऋतु मे वाज या प्राण या जल एक केन्द्र से अन्यत्र स्थानान्तरित होते हैं, उसी प्रकार मनुष्य शरीर मे भी वर्षा ऋतु आती है, जब प्रकृति चाहती है कि उसकी शक्ति वहकर प्रजापति के क्रम को चलाने मे सहायक हो। यक्ष इसी आध्यात्मिक वृष्टि से युक्त हमारे सम्मुख एक विप्रयोगी के रूप मे आता है। जिस कान्ता-रूप द्वन्द्व की उसे आवश्यकता है उसी से वह विश्लेषित है। उन दोनो मे सन्देश-रूप तार का मिलानेवाला मेघ है।

प्रकृति के समष्टि रूप मे नाना यज्ञ-कार्य सन्तत होते रहते हैं। वृष्टि अर्थात् मेघ का कार्य उन अनेक यज्ञो या अग्निहोत्रो मे से केवल एक है। उससे पूर्व की कोटि के तथा अवर कोटि के यज्ञो से उसका सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। जिस प्रकार किसी वडे उद्योग-गृह मे एक द्रव्य अनेक स्थानो के यन्त्रो और शिल्पियो के हाथो से निकलता हुआ अन्त मे यथेष्ट रूप ग्रहण करता है, अर्थात् जैसे ओटना-पीजना-कातना-बुनना-रगना आदि कार्य अलग-अलग सम्पन्न होकर अन्त मे तैयार वस्त्र प्राप्त होता है, इसी प्रकार प्रकृति की विराट् शिल्पशाला मे कारण शरीर से लेकर स्थूल शरीर की प्राप्ति तक जीवो के कितने ही सस्कार होते हैं। सृष्टि का स्वरूप सन्तत प्रवाह है। एक ओर प्रजाएँ मृत्युमुख मे जा रही हैं, एव दूसरी ओर आदित्य, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष और स्त्री रूपी यन्त्रगृहो द्वारा उनकी सृष्टि का निरन्तर सामान हो रहा है।

छान्दोग्य उपनिषद् मे श्वेतकेतु से प्रश्न किया गया —वेत्थ यथा

है। बिना तीनो के सहयोग के ये अपना वाज नही पी सकते। मनुष्य को भी वाजपेयी होने के लिए पाँचों कोष (विशेषतः अन्न-मय, प्राणमय और मनोमय) तथा छओ चक्रों को संमनस करना चाहिए।

१— उषो वाजेनवाजिनी—ऋ० ३।६१।१

लेकिन मेघ मनोभावो पर भी प्रभाव डालनेवाला है। उसके कौतुकाधान हेतु रूप के सामने कुछ देर खडे रहने पर यक्ष की जागरूकता बढी। पहले केवल इन्द्रियाँ काम करती थी, अब मन मे उथल-पुथल हुई। यक्ष की उन्ही आँखो मे आँसू भर आए—

अन्तर्वाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ

रामगिरि के आश्रम मे बैठे-बैठे उसके मन ने अलका की दौड़ लगाई। दूरगम और वेगशाली मन के लिए समय की अपेक्षा नही होती। शरीर स्थूल है, वही भर्ता के शाप से बँध सकता है, मन तो शाप की दशा मे भी स्वतन्त्र है। फिर वह मन आठ महीनो की साधना मे तप चुका है, उसकी अनुभव-योग्यता और स्फुरण-प्रतिभा बहुत उत्कृष्ट हो गई है। उसने पहले इस शाश्वत नियम का आविष्कार किया—

मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेत

अर्थात्, मेघ के देखने पर सयोगीजनों का चित्त भी दूसरी तरह का हो जाता है, फिर उनका तो कहना ही क्या जो वियोगी है—

कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे

अर्थात्, जिन्होंने अपने सहचर जन से दूर बसेरा लिया है उनके लिए तो वर्षाकाल अति दूभर है। यक्ष को जैसे ही कण्ठालिंगन प्रणयवती भार्या का स्मरण हुआ, उसकी विह्वलता बढी और देश का व्यवधान उसके लिए असह्य हो उठा। हा, कौनसा ऐसा अपराध है जिसके कारण उसे निम्नलिखित दण्ड मिले—सोऽतिक्रान्त. श्रवण विषय लोचनाभ्या-मदृष्ट। देश की बाधा पर विजय पाने का एक मार्ग तो यह था—

"यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानाम्।
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि। मेघ० २।३६

अर्थात्, मेघ का शब्द सुनकर जैसे विप्रोषित पथिकों के समूह अपनी पतिव्रता भार्याओ की कर्कश-रूक्ष-वेणी-मोक्ष करने की इच्छा से घरों को लौट पडते है, वैसे ही यक्ष भी अलका को वापिस चला जाता। परन्तु यह महीना सावन का था, यक्ष का शापान्त होने मे चार मास की देरी थी। यक्ष की मुक्ति तो तब होगी जब शाङ्र्गपाणि विष्णु शेष की शय्या से उठेगे (शापान्तोमे भुजगशयनादुत्थिते शार्गंपाणौ)। इसलिए उसके सामने एक ही उपाय रह गया। उसके द्वारा यद्यपि प्रत्यक्ष सम्मिलन तो नही हो सकता था, किन्तु कुछ-कुछ वैसे ही आनन्द की अनुभूति सम्भव

थी—

कान्तोदन्त. सुहृदुपनत. सगमात्किचिदून ।

अर्थात्, उसके जी मे यह आया कि दयिता के प्राणो की रक्षा के लिए अपने किसी मित्र के द्वारा सन्देश-वार्ता सुदूर अलका मे भेजे । इसी प्रवृत्तिहारक की हैसियत से मेघ के जिस स्वरूप का ज्ञान कवि ने हमे कराया है वह बहुत ही उच्च, साभिप्राय और सच्चा है ।

हमने वैज्ञानिक की मेघ-विषयक नीरस कल्पना के दर्शन किए । धूमज्योति सलिलमरुता सन्निपात —अर्थात् मेघ मे है ही क्या ? धुएँ ने सलिल का वस्त्र पहन लिया है[1], जिसके साथ ज्योति और वायु भी आन मिली है। जिसे हम मेघ-मेघ पुकारते है उसमे आत्मा तो है ही नही । क्षिति-जल-पावक-गगन-समीरा की भाँति कुछ तत्त्वो के एक जगह मिल जाने से मेघ सज्ञक विलक्षण पदार्थ उत्पन्न हो जाता है । उसमें कैसे मनोभाव और कहाँ की आत्मा ? शरीर को ही आत्मा माननेवाले जडवादियो की युक्तियो का उपसहार ही वैज्ञानिक का मेघ है । पृथिवी, जल, तेज, वायु नामक चार तत्त्वो से ही जिनके यहाँ शरीर और आत्मा सब कुछ वन जाती है, उनके लिए अमरपन की कल्पना वज्र उपहास के अतिरिक्त और क्या है ? आधुनिक विज्ञानान्वेपी शरीर-शास्त्री भी इस देह मे भौतिक और रासायनिक द्विविध कार्यो के अतिरिक्त किसी चैतन्य कार्य को मानते हुए वडे हिचकिचाते हैं, यद्यपि केवल भौतिकी और रसायन के वल पर शरीर के समस्त चैतन्य कार्यो की व्याख्या उनके निकट भी दुष्कर है। इस प्रकार के जडवादी सदा से रहे हैं। ज्ञात होता है कवि की उस शताब्दी मे उनको वहुत वल प्राप्त हो गया था । उनकी खरी आलोचना कवि ने की है और उनके जड 'सन्निपात' को निकम्मा और वेसूझ कहकर उसका तिरस्कार किया है । कवि को जड़ भूतो की आवश्यकता नही, वह तो सन्देश पहुँचाना चाहता है जिसके लिए चतुर प्राणियो की अपेक्षा होती है—

धूमज्योति सलिलमरुता सन्निपात क्व मेघ ।
सन्देशार्था क्व पटुकरणै प्राणिभि प्रापणीया । मेघ १।५।

अर्थात्, कहाँ धुएँ, आग, पानी और हवा का जमघट, और कहाँ

१—मेघे शक्रस्तस्य धूमः सलिलं वास एव वा । बृहद्देवता ४।४१।

कामरूप पुरुष

मेघ अनेक कौतुको के आधात का हेतु[1] है। उसके आने से प्रकृति मे न जाने कितनी नवीन अभिलाषाओं का उदय होता है, कितनी तीव्र विश्वतोमुखी चेतना सब जगह फूट पडती है। सब ही मेघ के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करते है। किन्तु सामान्यतया मेघ को जड समझा जाता है। उसके स्वरूप मे ऐसी कौनसी बात है जो चेतन-अचेतन सभी प्राणी मेघ का स्वागत करने पर उतारू हो जाते है? वर्षाऋतु के नये खिलते हुए सौन्दर्य को जिसने एक बार भी देखा है और मननपूर्वक देखकर उस आनन्द की बहिया मे अपने आपको बह जाने दिया है, वह अनुभव के साथ कह सकता है कि सावन-भादों का उमडा हुआ जीवन कवि की कोरी कल्पना नही है, बल्कि जामुनो के रस-निर्भर होने, बलाकाओ के काले-काले बादलों मे ऊँची उडान भरने और गम्भीरा के इतराने में एक विश्वव्यापी परिवर्तन और सच्चाई है, जो प्रकृति के साथ-साथ मनुष्यों के मन को भी मस्त कर देती है। इनके स्रोत का खोजी प्रत्येक सहृदय है, वह प्रकृति की पाठ्य-पुस्तक मे से ही मेघ के नाना-स्वरूपो का अध्ययन कर लेता है। उसके लिए मेघदूत का सारा वर्णन एक खण्ड-काव्य मे कैसे समा सकता है? मेघ-काव्य की व्याख्याएँ अनन्तकाल तक होती रहेगी। प्रकृति स्वय ही हर वर्ष मेघदूत पर महाभाष्यो की रचना करती है।

मेघ के वर्ण कितने प्रकार के हो सकते है, इसे कोई कवि कहाँ तक कहकर बताएगा? कज्जल के पहाड़ और चिकने घुटे अ जन (१।५९)[2]

१—तस्य स्थित्वा कथमपिपुरा कौतुकाधानहेतोः। मेघ० १।३।

२—स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे—मेघदूत १।५९।

की आभारूप जो उपमान है, वे मेघ की सार्वभौम वर्षाकालीन श्री[1] के वर्णन के लिए प्रतीक मात्र हैं। पर्वतो मे, घाटियो मे, वनो में, गांवो मे, आठ पहर के भीतर सदा बदलनेवाली कान्ति का अध्ययन तो प्रकृति का निरीक्षक सहृदय पाठक ही कर सकता है। इसी प्रकार बिजली के चमकने और बादल के गरजने को भी जहाँ तक कहते बना कवि ने कहा है। नदी तीरो के उपान्त भाग मे जो सुभग स्तनित होता है[2], पर्वत-कन्दराओ मे आमन्द्र प्रतिध्वनि के कारण जो मुरज ध्वनि होती है[3], तथा जो श्रवण परुष[4] और स्निग्ध गम्भीर घोष[5] हैं, उनका वर्णन करके भी कालिदास ने मेघ के स्तनयित्नुरूप के सामने विराम-चिह्न नही लगा दिया है जब तक प्रकृति मे मेघ गरजेंगे तभी तक कविनिर्दिष्ट वर्णनो की नई-नई व्याख्याएँ होती रहेंगी। मेघदूत के सम्पूर्ण रहस्य को व्याख्याओं द्वारा प्रकाशित कर देना दक्षिणावर्तनाथ, अरुणगिरिनाथ और मल्लिनाथों के बस की बात नहीं है।

यह तो मेघ के स्थूल रूप की बात हुई; अभिलाषाओ के नये-नये बीज बोनेवाला उसका स्वरूप तो और भी गम्भीर और अज्ञेय है। यथार्थ मे कवि को मेघ के कौतुकाधान रूप से ही विशेष प्रयोजन है। उसी के सहारे वह चेतनाचेतन के भेद को भुलाकर प्रकृति-व्यापी एकता का दिग्दर्शन कराना चाहता है। हमारे यक्ष ने पहले आंख उठाकर मेघ को वप्रक्रीडा मे लगे हुए हाथी के समान ही देख पाया। इस दर्शन मे मनोभावो का बिल्कुल सयोग न था, वह केवल इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान था।

१—इष्टान् देशाञ्जलद विचर प्रावृषा सम्भृतश्रीः—मे० २।५२।

२—तीरोपान्तस्तनित सुभगं—मे० १।२४।

३—निह्लादस्ते मुरज इव चेत् कंदरेषु ध्वनिः स्यात्। संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्र.। मेघ० १।५६। इस श्लोक मे तथा कुर्वन्-संध्या-वलि-पटहतां शूलिनः श्लाघनीयाम्। आमंद्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम्। (मे० १।३४) श्लोक मे मेघ को उपदेश है कि वह अपने स्वर और शब्द को शिवार्पण करके सफल करे। अद्रिग्रहण गुरुभिर्गर्जितैः—मे० १।४४।

४—श्रवणपरुषै. गर्जितै—मे० १।६१।

५—स्निग्धगम्भीरघोषम्—मे० २।१।

अर्थात्, हे मेघ जब तुम आकाश में विचरोगे, तब अनेक पथिकों की वनिताएँ विश्वास-भरे हृदय से तुम्हे देखेगी। उसके इस प्रकार सोत्सुक दर्शन का रहस्य उद्गृहीतालकान्ता पद मे है। वे प्रवास मे पतिव्रता रही है। इसलिए केश सस्कारो को बिल्कुल भूल गई होंगी। छूटे हुए केश ही नेत्रो पर गिरकर दृष्टि का मार्ग रोकना चाहते है, उन्हे हाथ से ऊपर उठाकर वे मलिनवसना प्रियाएँ मेघ को उत्कण्ठापूर्वक देखेगी। उद्गृहीतालकान्ता मे जो पातिव्रत की ध्वनि है उसी की सविशेष व्याख्या कवि ने उत्तरमेघ मे यक्षिणी के वर्णन मे की है।

ऐसे सन्देशार्थो पर जब कवि का ध्यान गया तो उसने उनकी अनन्त गम्भीरता दिखाने के लिए उनके आगे 'क्व' पद रख दिया, जिस प्रकार जड मेघ का निकम्मापन दिखाने के लिए 'सन्निपात. क्व' कहा था।

जड-सन्निपात मेघ और अपने सन्देशार्थो मे कवि को महदन्तराल या बडा असामञ्जस्य देख पडा। उन सन्देशार्थो की प्रवृत्ति (खबर) भेजने के लिए उसे निम्नलिखित सामग्री की आवश्यकता हुई—

पटुकरणै. प्राणिभि प्रापणीया·।

समर्थ इन्द्रियोवाला चेतन प्राणी ही प्रेम-सन्देश ले जाने के योग्य है। उसकी इन्द्रियो मे वह इन्द्र शक्ति होनी चाहिए जिसके कारण इन्द्रियाँ इन्द्रियाँ कहलाती है[1]। इन्द्र शक्ति ही इन्द्रियो को बल देती है[2]—

दधातु इन्द्र इन्द्रियम्—ताड्यमहा ब्रा० १।३।५।

इन्द्र से शून्य व्यक्ति से कुछ काम सिद्ध नही होता। विशेषत· प्रेम-वार्ता के लिए तो वृष-सम्पन्न[3] पुरुष ही होना चाहिए। इस प्रकार कवि को दो गुणों की चाह हुई, एक तो चेतन प्राणी की और दूसरे इन्द्रिय सामर्थ्य से युक्त प्राणी की। ये दोनो गुण जिसमें हो वही अलका तक दूत बनकर जा सकेगा।

१—मयि इदम् इन्द्र इन्द्रियम् दधातु—श० १।८।१।४२।

२—इन्द्रो मे बले श्रितः—तैत्तिरीय ब्रा० ३।१०।८।८। इन्द्रियम् वै वीर्य मिन्द्र—श० ३।९।१।१५। अर्थात् इन्द्रियों के वीर्य का नाम इन्द्र है।

३—वृषा वा इन्द्रः—कौषीतकी २०।३।

उपरोक्त दो वव के द्वन्द्व मे यक्ष का अनुभव तीव्र हुआ। उस औत्सुक्य की दशा मे उसका जडाश बिलकुल निर्गलित हो गया, आत्मेतर पदार्थों की प्रतीति जाती रही, बहिर्मुखी प्रवृत्ति के लिए बाह्य जगत् मे कोई स्थान न रहा, और हुआ वया 'बाढी उत्कठा जक्ष बुद्धि बिगरानी सब···' यक्ष 'अपरिगणयन्' दशा मे जाकर ससारगत परिगणनाओं को भूल गया। उसका दृष्टि-विन्दु ही और-का-और हो गया। उसके इस परिवर्तन मे किस नियम ने काम किया? उसको अन्तिम अनुभव की कोटि तक पहुँचाने के लिए किस प्रकार मन, बुद्धि आदि अन्त.करणों को नया जन्म लेना पडा? इसकी व्याख्या यह है—

कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु

अर्थात् काम से आर्तजन चेतन और अचेतन के भेद को बिलकुल भूल जाते हैं। यही वात यक्ष के साथ हुई। वह उन विषयो मे वेसुध हो गया जिनमे ससारीजन जागते है, मानो नये जगत् के अनुभव लेने के लिए उसने 'प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु' के मन्त्र द्वारा अपना नया कल्प कर लिया। वह स्थूल अन्नात्मक देह की सत्ता को भूलकर मनोमय साम्राज्य का अधिवासी वन गया। ऐसी दशा मे रहनेवाले वियोगी या अन्य अनुभवियो को भी अरति या विषय-द्वेष नाम की अवस्था प्राप्त हो जाती है जिसका वर्णन उत्तरमेघ (२।२७) मे है। इसमे इन्द्रियाँ अपने विषयो से विनिवृत्त हो जाती हैं। उनके अनुभवो के वहि केन्द्र रसशून्य होते है और मन के चिन्त्य विषय मे ही समस्त रस सचित हो जाता है। इस निर्मल स्थिति को प्राप्त हुआ मनुष्य स्थूल भोगों का भूखा नही रहता, वह उनसे निर्लेप हो जाता है और केवल भाव की भूख से मस्त रहता है। इस भोगपराङ्मुख वृत्ति का वर्णन निम्न श्लोक मे है—

स्नेहानाहु: किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा ॥
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसा: प्रेमराशी भवन्ति ॥

यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि चेतन और अचेतन के विवेक को भूलने के लिए जिस साधना और चित्त-शुद्धि की आवश्यकता है यक्ष उस सम्पत्ति से युक्त है। कविवर नान्हालाल का वचन है कि 'मास के भूखे राक्षस होते है और भाव के भूखे देव[1]।' भोग की तृष्णा राक्षसी

१—ऊषा—हिन्दी अनुवाद

विचक्षण इन्द्रियोवाले प्राणियो से ले जाने योग्य सन्देश-वार्ताएँ ![1] जड़ देह को ही आत्मा माननेवाले के समक्ष कवि दो बाते रखता है—एक तो जड मे प्राणसयुक्त प्राणी कैसे हो सकता है और दूसरे ज्ञान-विज्ञान मे समर्थ अन्त करण की उत्पत्ति जड-सन्निपात मे कहाँ से आई ? इस विवाद का अन्तिम निर्णय केवल अनुभव की शरण मे जाने से हो सकेगा। अनुभव उन लोगो का पक्का है जो सर्वत्र चैतन्य के ही दर्शन करते है, जिनको अपने चारो ओर आनन्द का महाम्बुधि भरा हुआ दिखाई देता है। ऐसे लोग प्रत्यक्ष अनुभव से कहते है कि जिसे तुम जड समझते हो वह वास्तव मे प्रकृति का चेतन पुरुष[2] है। ऐसे विशुद्ध अनुभव के आगे प्रत्यक्षानुमनादि प्रमाण सब निम्नकोटि के है। इस प्रकार देहात्मवाद और चैतन्यात्मवादरूप विवाद का अन्त करके प्रकृत प्रसग से सम्बन्ध रखनेवाले मेघ के कामरूप स्वरूप को आगे देखना चाहिए।

योगियों के ज्ञान और कामियो के सन्देश को ग्रहण करनेवालों के गुणो मे बडी समता पाई जाती है। ज्ञान किसी को घोलकर नही पिलाया जा सकता। गुरु शिष्य को चिनगारी मात्र दे देता है, उसे जो सुलगा लेता है वही सच्चा चेला है। शिष्य मे जब तक तीव्र वैराग्य न होगा अथवा अपने भीतर की आग न होगी, तब तक उसके हृदय मे ज्ञान की अग्नि प्रज्वलित न होगी। इसी प्रकार कामीजन भी सन्देश ले जानेवाले को सकेतमात्र दे देते है। उदन्त-वाहक जितना चतुर होगा उसकी सन्देश-व्यञ्जना भी वैसी ही उत्कट होगी। सन्देश का सारा पोथा कोई

१—'धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपात·' पूर्व पक्ष है। 'सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभि. प्रापणीयाः' पहली बात का प्रत्युत्तर है। जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः' में सिद्धान्तपक्ष मिलता है।

२—कालिदास के समय में दार्शनिक संसार में उपरोक्त दो दलो का बड़ा संघर्ष था। कवि ने अप्रत्यक्ष रूप में अपनी सम्मति का उपन्यास किया है। 'कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु' और 'जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूप मघोनः' के कामार्ता. और काम रूप को ज्ञानार्ताः और ज्ञानरूपं पढने से मानो इस विवाद का निर्णायक उत्तर हमें कालिदास के ही शब्दो में मिल जाता है।

किसी को कण्ठ नहीं करा सकता। यदि कोई कामी इसी पर निर्भर रहे कि जो कुछ उसके मन मे है उस सभी की उद्धरणी वह सन्देश ले जानेवाले के सामने कर देगा तो यह उसकी भूल है। कामी का हृदय अनन्त हो जाता है। उसमे सारा विश्व समा सकता है। एक ही वियोगी के आँसू सब संसार को प्रलय-सागर मे मग्न कर सकते हैं—कवियो का यह कहना अतिशयोक्ति भले ही मालूम हो पर है यह सत्य। एक ज्ञानी का ज्ञान सारे जगत् का उद्धार कर सकता है। आत्मा को जान लेने के बाद ज्ञानी को ऐसा प्रतीत होता है कि अब विश्व-भर के बन्धन इससे छूट जायेंगे। उसका मार्ग इतना सरल होता है कि उसकी समझ मे सब ही उस पर चलकर सुख-दु ख से पार हो सकते हैं। एक आत्मानुभवी के आनन्द से यदि समस्त विश्व की तपन बुझ सकती है तो एक कामी या वियोगी के आँसुओ से सब पिघल भी सकते है, एक सन्तप्त की आह से सब झुलस भी सकते है। कारण यह है कि मनोभावों की कुछ थाह नहीं है। ज्ञान या प्रेम की अनुभूति मे शरीर का भान तो बिलकुल छूट जाता है। क्षुत्पिपासा, शीतोष्ण, आदि द्वन्द्वो की सहन-सामर्थ्य दोनो मे एक-सी हो जाती है। दोनो रात-रात-भर जाग सकते है, दोनो के ही आँसुओ का प्रवाह सन्ततवाही हो जाता है। इस प्रकार वियोगी के हृदय की कुछ थाह नही होती।

इतने चेतन-सम्पन्न मन के सारे सन्देश को न कोई विप्रयुक्त जन कहकर पार पा सकता है और न दूसरा याद ही रख सकता है। यदि सन्देशवाहक ज्यो-का-त्यो ही सन्देश को पहुँचाने पर कमर कस ले तो वह सन्देश जडीभूत होगा, सन्देशवाहक केवल पत्रवाहक बन जायगा। फिर उस सन्देश को सिवाय प्रेमी के और सब न तो सुन ही सकेंगे और न समझ ही सकेंगे। यक्ष का सन्देशवाहक तो आकाश-मार्ग से जाता है। वह स्वय सन्देश रूप हो गया है। सर्वदा और सर्वत्र सभी प्राणी उस सन्देशरूप मेघ की व्याख्या अपने-अपने लिए करेंगे। एक अलका की यक्षिणी ही क्या, इसी प्रेम-पन्थ में न जाने कितनी और विरहिणी रो चुकी है। आकाश-मार्ग से जानेवाला मेघ सबके लिए अनन्त सन्देश सुनाता चलता है—

त्वमारूढ पवनपदवीमुद्गृहीतालकान्ता.।
प्रेक्षिष्यन्ते पथिकवनिता प्रत्ययादाश्वसन्त्यः॥ मे० १।८।

इस पक्ति का सामान्य अर्थ टीकाकारो ने स्थूल और भौतिक ही किया है । यथा, कामरूपमिच्छाधीनविग्रहम् । दुर्गादिसचारक्षममित्यर्थः । मघोन. इन्द्रस्य प्रकृतिपुरुष प्रधानपुरुष जानामि । मल्लिनाथ ।

अर्थात्, अपनी इच्छा के अनुसार रूप वदलने वाले तुम इन्द्र के प्रधान पुरुप हो । परन्तु इस भौतिक लक्षण से कही आगे इस श्लोक के अन्तस्तल मे जो गम्भीर अर्थ भरा है उसके आलोक से सारा ग्रन्थ ही एक वार जगमगा उठता है । हम ऊपर कह चुके है कि यक्ष को चतुर इन्द्रियों वाले दूत की आवश्यकता थी । वहाँ यक्ष ने स्वयं इन्द्र के ही कामरूप पुरुप को अपने दूत कर्म के लिए चुन लिया है । इन्द्र के पुरुप से वढकर इन्द्र-शक्ति और कहाँ सम्भव है ? हमारी दूसरी आवश्यकता थी चेतना-सम्पन्न प्राणी । यहाँ मेघ ही समस्त चर और अचर प्रकृति का पुरुप है । विकासोन्मुखी प्रकृति स्वय उसे चाहती है, दूर से ही मेघ का शब्द सुनकर उसे रोमाच हो आता है (मे० १।११) । मेघ उसके वध्यात्व दोप को मिटाकर उसमे प्रजापति के क्रम की वृद्धि करता है । यह क्रम निम्नलिखित है—

पर्जन्य से वृष्टि, वृष्टि से ओपधि—अन्न, अन्न से रस, रस से वीर्य, और वीर्य से प्रजोत्पत्ति । कैसा निरापद मार्ग वना हुआ है !

कामरूप मेघ ही ऐसा सामर्थ्यवान् पुरुप है । इस मेघ का सम्वन्ध इन्द्र से है । वह इन्द्र का प्रधान-पुरुष क्या, स्वय इन्द्र का रूप ही है । इन्द्र और मेघ का सम्वन्ध सनातन है । वेदो मे भी इन्द्र के वर्पण-कार्य की विस्तृत मीमांसा है । वृष शब्द और इन्द्र का घनिष्ठ सम्वन्ध है । वृप और वृषभ शब्द प्राय छ सौ वार ऋग्वेद मे आए है । उनमे से आधी वार वे इन्द्र के विशेपण है । सोम के लिए किये गए सौ प्रयोगो मे भी इन्द्र का साहचर्य है । जो पुरुपो मे वृष है, वही स्त्रियो मे सोम है । शेप प्रयोगो का अर्थ प्राय रेत.सिञ्चन और पुरुप के प्रजननात्मक कार्य का निर्देश करता है । शतपथ, ताड्य और कौपीतकी ब्राह्मणो मे इन्द्र को साक्षात् वृप कहा है । वृष नाम वर्षण-सामर्थ्य का है । वह शक्ति जिसमे हो वही वृपा है । अग्रेजी मे वृपण का अर्थ Sprinkling या fertilisation है । पुरुप और योपित् के वर्पण और पृथ्वी के वर्षण मे कुछ अन्तर नही है । जैसे विराट् प्रकृति मे मेघ नौ मास तक तपकर ब्रह्मचर्य धारण करता है, और उसके वाद फिर ऋतुकाल मे रसनिपिञ्चन करता है, जैसे

गर्जनरूप शब्द के कारण पृथ्वी को शिलीन्ध्ररूप रोमांच होता है, जैसे धरित्री के सोम या प्रसवार्ह गुण की अभिव्यक्ति और तब वास्तविक वर्षण होता है, वैसेही सारा क्रम पुरुष-योषित् में भी है। प्रजा-संवर्धन की दृष्टि से मेघ के वर्षण और पुरुष के वर्षण में न केवल भेद का अभाव है, बल्कि गहरी समानता और व्यापक सम्बन्ध है। गर्भाधान के समय पुरुष कहता है, 'वृष ने हमारे अन्दर जिन समर्थ अमोघ वीर्यों को उत्पन्न किया है, उनसे तू गर्भ धारण कर',[1] तथा 'प्रजापति नाम वृषभ की सहायता से मैं स्कन्दित होता हूँ, तू वीरपुत्र को धारण कर।'[2] वस्तुतः पुरुष को द्यौ और पृथ्वी के विराट् प्राजापत्य कर्म का भी मर्म उस समय स्मरण करना होता है, और वह कहता है—

असो ऽहमस्मि सा त्वं, द्यौरहं पृथ्वी त्वं, रेतोऽहं रेतोभृत्त्वं;
मनो अहमस्मि वाक्त्वं, सामाहमस्मि ऋक्त्वम्
बौ० गृ० सू० १।७।४१।

पुरुष-स्त्री का यह मनोरम सम्बन्ध हमारे साहित्य में नाना उपमान से कहा गया है। पुरुष उत्तरारणि और स्त्री अधरारणि है, उनके मन्थन से प्रजाग्नि प्रज्वलित होती है। स्त्री शमी और पुरुष अश्वत्थ है, उनका प्राजापत्य कर्म ही शमीगर्भ अश्वत्थ का रूप है। यज्ञ के शब्दों में स्त्री वेदी है जिसमें वृषरूप अग्नि का आधान होता है—

योषा वै वेदिर्वृषाऽग्निः —श० १।२।५।१५।

यह वृषाग्नि वीर्य की ही संज्ञा है—

वीर्यं वा अग्निः —तैत्तिरीय ब्रा० १।७।२।२।

मेघ की वृषाग्नि के लिए सारी पृथ्वी ही वेदि स्वरूप है[3]। पुरुष की इन्द्र-शक्ति के निर्माता वृषण-कोष है[4]। आयुर्वेद में वर्णित वाजीकरणतन्त्र

१—यानि प्रभूणि वीर्याणि ऋषभा जनयन्तु नः।
तैस्त्वं गर्भिणी भव स जायताम् वीरतमः स्वानाम्।
—हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र १।२५।१।

२—भूः प्रजापतिनात्यृषभेण स्कन्दयामि वीरं धत्स्वासौ।
—हिरण्यकेशि गृह्य सूत्र।

३—यावती वै वेदिस्तावतीयं पृथिवी—जैमिनीय उपनिषद् ब्रा० १।५।५।

४—आण्डाभ्यां हि वृषा पिन्वते—श० १४।३।१।२२।

है और स्त्री के प्रेम-भाव की पिपासा दैवी। यक्ष प्रेम की परिभापा के इस अर्थ मे दैवी है, आसुरी नही।

एक अर्थ मे हम सभी लोग चेतन और अचेतन के भेद को भूले हुए है। शकराचार्य के शब्दो मे हम सब लोग पशुओ के समान आत्मा-नात्म-विवेक से शून्य है, और इसी विवेकहीन दशा मे आत्मा के दैवी स्वरूप को भुलाकर उससे बद्ध और जड देह के समान काम ले रहे है। इस कारण हमारे कर्म सुख-दु ख मे सने है, उनमे आनन्द नही। हमारी इन्द्रियाँ भोगोन्मुखी है, वे अन्तरात्मा को नही देखती। इस प्रकार का जड-चेतन का अविवेक सामान्यत' पाया जाता है। वह बन्धन का हेतु है, उससे श्रेय की आशा नही। चेतनाचेतन की कृपणता दो तरह की होती है—एक तो अचेतन को चेतन समझना और दूसरे चेतन को भी अचेतन मानने लगना। एक ऊर्ध्वमुखी और सात्विकी है और दूसरी अधोमुखी और तामसी। यदि यक्ष जिसे अब तक चेतन समक्ष रहा है उसे भी जड़वत् देखने लगें, तो वह स्वय भी बिलकुल जड हो जायेगा। उस अन्त सज्ञाशून्य मूर्च्छित अवस्था मे पडे हुए यक्ष की करुण-कथा और अनुभवो को कौन सहृदय सुनना चाहेगा? वे अनुभव ससार के लिए किसी भी तरह नये न होगे, उनसे किसी भी ज्ञान-वृद्धि और कल्याण की आशा न होगी।

कवि चैतन्य के विस्तार को किसी भी अवस्था मे सकुचित करना न चाहेगा। चित्त का सीमाबद्ध होना ही दु ख है, चित्त का असीमित विस्तार ही परम आनन्द है। ज्यो-ज्यो शरीरस्थ चित्त का विकास-क्षेत्र बढता है, हमारे आनन्द की मात्रा मे वृद्धि होती जाती है। क्या ससार और क्या आत्मानुभव, दोनो दशाओ मे यह नियम सत्य है। हाँ, आत्मा-नुभव की अवस्था मे चिति का विकास नि सीम या अनन्त हो जाता है। उस आनन्द की तुलना मे ससारगत चितिविस्तार के सब सुख नीचे ठहरते है।

यक्ष ने चेतनाचेतन के भेद को भुलाने मे इसी उत्तरायण मार्ग का अवलम्बन लिया। वह सब जगत् को परम चैतन्यमय देखने लगा। उसके सामने से मानो पर्दा उठ गया। उस आनन्द-सागर मे मग्न हुए बिना कौन उसका महारस त्रिकाल मे भी जान सकता है? यक्ष ने इस आवरण के दूर करने मे दम्भ नही किया, उसका चैतन्य-ज्ञान क्षणिक या

वनावटी नही था । सचाई इस अनुभव की पहली कसौटी है । इसीलिए कवि ने लिखा है—प्रकृति-कृपण:—अर्थात् मन, कर्म, वचन तीनों ही विलकुल वदल जाते है । भीतर-वाहर सर्वत्र ही अमृत आनन्द की सम्प्राप्ति होती है । इस अनुभव की प्राप्ति के लिए प्रत्येक नचिकेता को यम के द्वार पर जाकर अपना चोला वदल डालना पड़ता है । इस मार्ग मे वुद्धि एक होती है—वहुत शाखाओवाली और अनन्त नही[1] । फलत: यक्ष की वुद्धि मे निश्चय हो गया कि अनुभवो की इयत्ता केवल भौतिक जगत् तक ही परिमित नही है, उनका सच्चा स्वरूप वह है जिसमे सर्वत्र चैतन्य को सम्प्राप्ति होती है । ऐसे यक्ष ने मेघ को एक वार फिर देखा; अव धूम-ज्योति सलिल-मरुता के सन्निपात मेघ मे उसे जिस विलक्षण पुरुप के दर्शन हुए, वह विश्व के मेघ-विपयक ज्ञान मे अभूतपूर्व है । वैज्ञानिक की पर्जन्य-विषयक मति की अवहेलना करते हुए हमारे मन मे जो कविकृत मेघ-ज्ञान जानने का औत्सुक्य उत्पन्न हुआ था, उसकी तृप्ति अव आकर होती हे । हम मन-ही-मन कह रहे थे—'हे महापुरुप, तुम भी तो कुछ कहो कि हम मेघ को कैसे जाने ।' अव उसी रहस्य को कवि ने हमारे लिए खोल दिया है—

जानामि त्वा प्रकृतिपुरुप कामरूप मघोन । मेघ० १।६ ।

मैं तुम्हे जानता हूँ कि तुम प्रकृति के कामरूप पुरुष हो । इसी ज्ञान को वताने के लिए मेघदूत काव्य का उपक्रम किया गया है । ऐसे कामरूप पुरुप को कवि अलका के उस लोक मे ले जाना चाहता है (गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणाम्), जहाँ काम को भस्मावशेष करने वाले शिव का साक्षात् निवास जानकर कामदेव अपना चाप चढाने से डरता है—

मत्वा देव धनपतिसख यत्र साक्षाद्वसन्तम् ।
प्रायश्चाप न वहति भयान्मन्मथ पट्पदज्यम् ।। मे० २।१०।

इसी ज्ञान मे मेघदूत के अध्यात्मशास्त्र का सार हे । हमे 'जानामि त्वा प्रकृतिपुरुप कामरूप मघोन' पर विशेप ध्यान देना है ।

१—व्यवसायात्मिका वुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
वहुशाखा ह्यनन्ताश्च वुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।।—गीता ।
खाते-पीते सोते सदा यक्ष को यक्षिणी का ही स्मरण रहता था ।

मे रिक्त पुरुष को वृष सम्पन्न करने के लिए प्रयोगो की संज्ञा वृष्य है। इस प्रकार यह निश्चित है कि पुरुष मे प्रजोत्पत्तिरूप वर्षण करने की जो सामर्थ्य है वही उसकी इन्द्रियो का ओज है, जिसके स्पन्दित होने से उसके तेज की हानि होती है।

विराट् प्रकृति मे जो आप् है मनुष्य देह मे वे ही रेतरूप है। मनुष्य-शरीर को देवताओ की सभा कहा गया है[1], जिसमे सब देवताओ ने प्रवेश किया है। जलो के लिए कहा है—आपो मे रेतसि श्रिताः। तै० बा० ३।१०।८।६। इन्ही जलो के वर्षणात्मक रूप की संज्ञा इन्द्र है। इन्द्र शब्द के और भी अनेक अर्थ है, यथा आत्मा, प्राण, मन, सूर्य, अग्नि, क्षात्रतेज आदि, परन्तु हमारा प्रयोजन यहाँ वृषात्मक इन्द्र से ही है। इन्द्र की विद्यमानता से द्युलोक गर्भ धारण करता है (द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी)।[2] यह इन्द्र ही द्युलोक को वर्षण शक्ति से युक्त करने वाला है—

वृषासि दिवो वृषभ. पृथिव्या वृषा सिन्धूनां वृषभ. स्त्रियानां।
वृषेण त इन्दुर्वृ पभ पीपाय स्वादूरसो मधुपेयो वरा॥ ऋ० ६।४४।२१

अर्थात्, हे इन्द्र, तुम द्युलोक, पृथ्वी, स्पन्दनशील नदियों और वनस्पतियो के वर्षक हो। हे वृषभ, श्रेष्ठ वृषशक्ति से सम्पन्न तुम्हारे लिए स्वादिष्ठ मधुश्चुत् सोम की वृद्धि हो। उस वर्षक की प्रेरणा से यह प्रकृति वृषस्यन्ती होती है।

वृष और इन्द्र के तादात्म्य ज्ञान के साथ ही वृष और काम की घनिष्ठता भी जाननी आवश्यक है। काम का अधिष्ठान स्वाधिष्ठान चक्र मे है, जहाँ जल तत्त्व मुख्य है। जल का ही विपरिणमित रूप रेत है जो काम का रूप है। जल की सज्ञा इरा कही जा चुकी है। इसी के कारण काम को सस्कृत भाषा में इराज और यूनानी भाषा मे इरोस (Eros) कहा गया है। संस्कृत कोषो मे वृष का एक अर्थ काम है। शिव ने काम को भस्म कर दिया था, तभी से उनके नाम वृषाञ्चन, वृषभध्वज

१—एषा वै दैवी परिषद् दैवी सभा दैवी संसत्—जैमिनीय उ० ब्रा० २।११।१३। इस सभा के देवता और प्रतिनिधियो का तथा उनके आयतनो का विस्तृत वर्णन ऐतरेय उपनिषद् (२।४) में है।

२—यथाग्नि गर्भा पृथिवी द्यौर्यथेन्द्रेण गर्भिणी।
वायुर्यथा दिशां गर्भ एवं गर्भं दधातु ते॥

और वृषकेतु आदि हैं। शिव की सबसे बडी विजय वृष को अपने वश मे करके उस पर सवारी करना है। प्राय जगत् के सब पुरुषो पर वृष सवारी करता है अर्थात् सब काम के अधीन है, कोई-कोई महाभाग पुण्य तपस्वी ही अपने ज्ञान-चक्षु से काम को वश मे करके वृष को वाहन बना लेते है।

इन्द्र का वृष और काम के साथ जो घनिष्ठ सम्बन्ध वैदिक समय मे ही निर्णीत हो गया था, उसके कारण एक ओर तो पुराणो मे इन्द्र को विलासी, कामी और पराये की साधना-तपस्या से द्वेष करने वाला वर्णित किया गया है, तथा दूसरी ओर पश्चिमी विद्वानो के हाथ मे पडकर इन्द्र रँभानेवाला बैल बन गया है। पुराणो का इन्द्र-चरित्र तो थोडे से ही विचार से समझ मे आ सकता है। भारतीय अध्यात्म का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि आत्म-दर्शन की सिद्धि तक पहुँचने के पहले काम वासना—तृष्णा-विषय या भोग-लिप्सा का सर्वाश मे दमन करना अनिवार्य है। बिना काम को जीते आगे बढने वाला साधक शरभ मृगो के समान काम-रूपी इन्द्र के वज्र की मार से खण्ड-खण्ड हो जाते है। अध्यात्म-पथ के तपस्वी पथिक को धैर्यपूर्वक इस ज्ञान-विज्ञान का नाश कर देनेवाले दुरासद पाप्मा शत्रु को वश मे कर लेना चाहिए। यह कार्य कठिन अथवा असम्भव भले ही प्रतीत हो, परन्तु नितान्त आवश्यक है, और बिना इस मार्ग पर चले दूसरी गति ही नही है। अखण्ड समाधि-लाभ करने के लिए शिव को इन्द्र के भेजे हुए काम को पहले भस्म करना पड़ा। मदन के निग्रह से ही शिव अरूपहार्य हो सके—

अरूपहार्यं मदनस्य निग्रहात् पिनाकपाणि—कुमारसम्भव ५।५३।

इसी प्रताप से शिवजी वृषारूढ हो गए। वृष पर सवारी करनेवाले शिव के चरणो मे वृष शक्ति के प्रमुख इन्द्र ने ऐरावत के साथ मस्तक नवाया। वृष-वाहन शिव और वृषा इन्द्र का सम्बन्ध कालिदास ने इस श्लोक मे कितनी स्पष्टता से बताया है—

असपदस्तस्य वृषेण गच्छतः प्रभिन्नदिग्वारणवाहनो वृषा।
करोति पादावुपगम्य मौलिना, विनिद्रमन्दाररजोरुणागुली॥

—कुमारसम्भव ५।८०।

अर्थात्, मदस्रावी ऐरावत नाम का दिग्गज है वाहन जिसका, ऐसा वृषा देवेन्द्र सब सम्पदाओ से विहीन किन्तु वृष को वाहन कर लेनेवाले

देवराज शकर के चरणो मे प्रणाम करता है। इसी वृष पर बोधि ज्ञान पाने से पहले भगवान् बुद्ध को भी चढना पडा था। शिव की काम-विजय और बुद्ध की मार-विजय[1] मे कोई अन्तर नही है। त्र्यम्बक ने अपने तृतीय नेत्र के वीक्षण से वज्रपाणि को जडीभूत कर दिया था। वह वज्रपाणि इन्द्र बुद्ध का अनुचर बनकर उनके चरणो की सेवा करता है। बुद्धगया के पास की इन्द्रशैल गुहा मे भगवान् बुद्ध तपस्या कर रहे थे तब पचशिख गन्धर्व के साथ इन्द्र ने उनके दर्शन किए थे।

जब भी कोई तपस्वी सिद्धि प्राप्त करना चाहता है, काम उसके मार्ग मे बाधा डालता है। कितने ही तो उसके प्रलोभनो मे फसकर विश्वामित्र के समान स्खलित हो जाते है, और कितने ही शुक के समान उन उपद्रवो की ओर आँख उठाकर भी नही देखते। इन्द्र शतक्रतु है। क्रतु का अर्थ शक्ति या वीर्य है।[2] शत के अर्थ अनगिनत सख्या के है। इन्द्र या

१—अजन्ता की २६वीं गुफा में बुद्ध की मार-विजय को अद्भुत रूप में दर्शाया गया है। इन्द्र ऐरावतारूढ़ होकर हाथ में वज्र लिए है, और बुद्ध के शान्त ज्योतिष्मान् मुख को देखकर अपनी पराजय से खिन्न-सा देख पड़ता है।

२—क्रतु = वीर्य (ऐतरेय ब्रा० १।१३)। Kratos = Strength। क्रतु के अर्थ यज्ञ भी है।

इन्द्र शतक्रतु है, क्योंकि उसने सौ यज्ञों के तेज को आत्म-संयुक्त किया है। वैदिक साहित्य के अनुसार शरीर एक यज्ञ है, जिसमें सिर उखा है जो मनन शक्ति का पचन करती है। सब संकल्पो का उद्गम मस्तिष्क में ही होता है। इन्द्रियो को संयमाग्नि में हुत करने से तत्सम्बन्धी देवता को अमृतभाग प्राप्त होता है। इन्द्रियों का विषयासक्त होना आसुरी कार्य, मृत्यु और विषपान है। प्राण ही सप्त होता या सप्ताहुति है (मु० उ० २।१।८) जिसके समिद्ध होने से मनुष्य दीर्घायु और आरोग्यरूप अमृतत्व पाता है। एतद्वै मनुष्यस्यामृतत्वं यत्सर्वमायुरेति—श० ६।५।१।१०। अहर्निश प्रवृत्त इस यज्ञ में सैकड़ो ही अवसर पूर्णता या ध्वंस के आते है। देवतास्वरूप इन्द्रियो के जिनके कारण यह शरीर दैवी परिषद् कहलाता है, अधिपति मन का शतक्रतु या शत यज्ञ के वीर्य से सम्पन्न होना ही श्रेयस्कर है।

काम की शक्ति शरीर मे सबसे प्रबल है। वह इन्द्र यह सदा चाहता है कि और जितने पुण्य या यज्ञीय भाव है उनकी सामर्थ्य उसके वीर्य से कम रहे। वह स्वय शतवीर्य है, और किसी भाव को निन्यानवे से अधिक नही होने देता। जिसके शरीर मे और कोई पुण्य व्रत शतवीर्य या शत-क्रतु हो सकेगा, उससे इन्द्र को अपना आसन छोड देना पडेगा और वह व्रत ही सर्वाभिभावी राजन्य या इन्द्र हो जायगा। इसीलिए कहा गया है कि इन्द्र किसी का सौवाँ यज्ञ पूरा नही होने देता। तपस्वियो के तप को वह सदा खण्डित करने के उद्योग मे रहता है। यही इन्द्र का काम-सस्पृष्ट रूप पुराणो मे रोचक विस्तार के साथ कहा गया है। तपस्या की एक-निष्ठता और साधनैकाग्रता निवाहने का उपदेश देने के लिए वे सब कथाएँ स्तुतिपरक अर्थवाद है।[1]

पौराणिक इन्द्र की कथाओ मे इस प्रकार के विमर्श से सगति और व्युत्पत्ति लग सकती है। इन्द्र और वृष के आधिभौतिक और आध्यात्मिक सम्बन्धो को जिनका कुछ दिग्दर्शन हमने ऊपर किया है न समझने के कारण ही पश्चिमी विद्वान् इन्द्र को रम्भानेवाला बैल मान लेते है। वैदिक समय मे शब्दो की यौगिक वृत्ति अतिशय तरल दशा में थी। वृष-धातु से निष्पन्न सब शब्दों मे वर्षणात्मक अर्थ की ओर ही प्रधान सकेत था। वृषभ शब्द मेघ, पुरुष, बैल सबमे समान अधिकार से घटित होता था। सब ही मे उत्कट वृष शक्ति का गुण मौजूद है। वैदिक आर्य वृषभ

१—इन्द्र के स्वरूप का अशेष वर्णन किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ मे समा सकता है। इन्द्र और अहिल्या की कथा में इन्द्र सूर्य है जैसा कि कुमारिलभट्ट ने समझाया है। एवं समस्ततेजा. परमैश्वर्यनिमित्तेन्द्रिय शब्दवाच्यः सवितैव अहनि लीयमानतया रात्रे अहल्याशब्दवाच्यायाः क्षयात्मक जरया हेतुत्वाज्जीर्यति अस्मादनेन एव उदितेन इति आदित्य एव अहल्याजार इत्युच्यते। न तु परस्त्रीव्यभिचारात्। ऋग्वेद के इन्द्र-मरुसंवाद में इन्द्र आत्मा और सत्त मरुत सात प्राण है। (ऋग्वेद १।१६५)
(इन्द्र के विशेष वर्णन के लिए देखिए कुमारी अनन्तलक्ष्मी का लेख Indra, the Rigvedic atman, Journal of Oriental research Madras, Jan. 1927)

शब्द से बैल भी समझते थे[1], परन्तु वह ही अकेला उस शब्द का अर्थ न था।[2] बैल और मेघ के सादृश्य को उन्होंने बहुत दूर तक प्रतिपादित किया और 'भृश रोरवीति' की प्रत्यक्ष समानता का उन्होंने मेघ के लिए कई बार वर्णन किया है। घोर गर्जन करनेवाले काले बादलो मे और मस्त होकर रँभारनेवाले उद्दाम वृषभ मे व्यापक दृष्टि रखनेवालो को एक ही तत्त्व दृष्टिगोचर होता है, जिसकी सज्ञा वृष है और जो पृथ्वी और स्त्री-जगत् मे प्रजापति के क्रम का एक मात्र सवर्द्धन करनेवाला है।

शिव के साथ जो वृष का सम्बन्ध था उसमे वृष का अर्थ वही है जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। आध्यात्मिक भावो को कलात्मक रूप देने की प्रवृत्ति इस देश मे सदा से प्रबल रही है। प्राय अचिन्त्य अनिर्वचनीय भावो को ही मूर्त रूप मे समझाने की चेष्टा की गई है। सहस्रशीर्षा पुरुष और शेषशायी विष्णु की कथा इसका एक उदाहरण है; सूर्य के सात अश्वो की कल्पना दूसरा है। इसी भाव से प्रेरित होकर कलाविद् पुराण-निर्माताओ ने, जो प्राय वैदिक अर्थो का ही लोक-कल्याण के लिए उपबृहण करते थे, शिव का वाहन श्वेत रग का वृषभ रखा। कालिदास वृष शब्द का वर्षणात्मक अर्थ जानते थे जिसका उन्होने कई जगह प्रयोग भी किया है। शिव के स्वरूप मे उन्हे 'कैलास गौर वृषमारुरुक्षु' की पदवी दी गई है। मेघदूत मे कहा है कि मेघ मानसरोवर के सलिल का पान करता है, वही इन्द्र का वाहन ऐरावत हाथी विचरता है और सन्निकट कैलास पर ही शिव का नन्दी भी विद्यमान है। वस्तुत मेघ, इन्द्र, ऐरावत, वृषभ सब मे ही एक विराट् अन्तः सम्बन्ध है जिसका कुछ ज्ञान प्रस्तुत विवेचन से हो सकता है। यौगिक वृष शब्द कालान्तर मे वृषभ के लिए ही रूढ़-सा हो गया, यद्यपि आयुर्वेद के 'वृष्य' शब्द मे अभी तक उसके पुराने अर्थो का सकेत पाया जाता है।

इस प्रकार यक्ष ने प्रकृति के कामरूप पुरुष का ज्ञान प्राप्त कर लिया। वह स्वयं कामी था।[3] पुरुष-स्त्रीरूप जो द्वन्द्व प्रकृति मे सर्वत्र

१—एतद्वा इन्द्रस्य रूपं यद्वृषभः—श० २।५।३।१८।
२—वृषा वा इन्द्रः—कौषीतकी ब्रा० २०।३।
३—अबला विप्रयुक्तः स कामी—मे० १।२

दृष्टिगोचर होता है उस योजना मे वह अपनी कान्ता से वियुक्त भी था। उस स्वात्माश के सम्पर्क मे आने के लिए उसकी जो आकुलता थी, उसीके कारण अन्त दृष्टि सम्पन्न होकर उसने सब चराचर को ही द्वन्द्व-रूप मे देखा। विराट् प्रकृति के पुरुष रूप मे तो स्वय मेघ ही उसे दिखाई पडा। उस मेघरूपी बृहच्छेप ब्रह्मचारी ने अपने अभिक्रन्दन से समस्त सृष्टि मे हलचल मचा दी। सब पर ही उसका प्रभाव पडा। इसी विश्व-व्यापी चेतना को मेघदूत के कर्त्ता ने अपने कवित्वगुण से हम सब के लिए अमर बना दिया है।

कालिदास ने इस विश्व के चेतन और अचेतन दो भाग किये है। उन्ही का दूसरा रूप प्रकृति-पुरुष है। वस्तुत प्रकृति पुरुष की ही शक्ति है और अचेतन चेतन का ही प्रतिबिम्ब या अधिष्ठान है। चेतन और अचेतन के भेद को मिटाकर अन्तर्दृष्टि द्वारा देखने पर अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् के सामञ्जस्य का जैसा अनुपम दृश्य हो जाता है उसी को मेघ-दूत मे हम पग-पग पर देखते है। अन्तर्जगत् अध्यात्म के अनन्त सौन्दर्य से आलोकित है। हम बहुधा बाहरी प्रकृति के सौन्दर्य को अन्तर के सौन्दर्य से विच्छिन्न हुआ समझते है। बिना आन्तरिक अनुभव के बाह्य सौन्दर्य केवल भटकानेवाला है। कभी किसी चिडिया या कभी किसी पुष्प को देखकर हम उल्लसित हो उठते है; कभी नारी के सौन्दर्य से मुग्ध होते है। हमारा सौन्दर्य-केन्द्र बाहर रहता है और आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध न होने के कारण हमारी अपनी महिमा बहि.सौन्दर्य की उपासना मे अस्तगमित हो जाती है। जो लोग पहले चेतन का अनुभव करके उसीका प्रतिबिम्ब बाह्य जगत् मे देखते है उन्हे सौन्दर्य का जैसा विलक्षण और अनन्त आनन्द प्राप्त होता है, वही विरही यक्ष को हुआ है। उसकी दृष्टि बडी पैनी हो गई है। मेघ का ज्ञान हो जाने से प्राकृत जगत् के सौन्दर्य का अपार सागर उसके हाथ आ गया है। सर्वत्र उसे मेघ की विभूति के दर्शन होते है। इसी सागर के सुन्दर-सुन्दर रत्नो का व्यतिकर मेघदूत का प्रकृति-वर्णन है।

बाह्य जगत् के पृथ्वी और पर्वत, नदी और स्रोत, वन और उद्यान, नगर और जनपद, पुष्प और फल, वृक्ष और लता, पशु और पक्षी, स्त्री और पुरुष, देवयोनियाँ और देवता—इन सबका सौन्दर्य मेघ के साथ मिलकर सहस्र रूपो मे यक्ष के सामने आता है। मेघ सबको मिलाने वाला

सूत्र-तन्तु है। वह अपने वर्ण से सबको रजित करता है तथा प्रत्येक के सौन्दर्य से स्वयं भी कान्तिमान् होता है। प्रकृति में ऐसा कोई प्रकाश नही जिसमे कामरूप मेघ की सौन्दर्य-ज्योति न मिली हो। कही वह दूसरों को छवि वितरित करती है, और कही जैसे शिव के स्थान मे स्वय प्रभानुलिप्त होती है।

यही हाल चैतन्य का है। मेघ के सम्पर्क से प्रकृति में चर-अचर सभी प्राण की बहिया मे उतरने लगते है। सौन्दर्य और चैतन्य को एक साथ ही मिलाकर यथास्थान कवि ने बड़े कौशल से सन्निविष्ट किया है। इस सम्मिश्रण से विलक्षण आनन्द की उत्पत्ति हुई है। मेघदूत के प्रकृति-वर्णन मे बाह्यरूपो की सूची-सी नही जान पडती, उसमे पद-पद पर चैतन्य शिवात्मक ज्योति का दर्शन और स्मरण होता है। नदी बहती है, जामुने फलती है, यह सत्यस्वरूप है। इस सत् के कार्यो में चैतन्य अन्तर्निहित है। नदी क्यों अगाध जल से पूर्ण हो गई, आम्र-कानन और यूथिका-वन क्यों सौरभ का विस्तार करने लगे—इन प्रश्नो का उत्तर देना ही मेघदूत की मनोहर विशेषता है। कवि कहता है कि चैतन्य मेघ के दर्शन से प्रकृति का चैतन्य भी उमड पड़ा है। सबमे प्राण डालनेवाला मेघ ही है। चेतन मेघ ने काम-पुरुष बनकर प्रकृति के जिन-जिन पदार्थो और सत्वो को छू दिया है, वे सब ही सुन्दर और दर्शनीय बन गए है। द्युलोक और पृथ्वी के बीच ऐसा कौन है जिसका मेघ से सम्बन्ध न हो? इसलिए सर्वत्र ही सत् पदार्थो मे श्री या सौन्दर्य का आभास मिल रहा है। ऐसा ही सत्य और चित् का मेल मेघदूत काव्य मे मिलता है, इस कारण उसमे अनन्त सनातन आनन्द प्रदान करने की क्षमता है।

कामपुरुप मेघ के आने से प्रकृति-पृथिवी मे क्या-क्या परिवर्तन होते हैं उनका कुछ वर्णन कवि ने किया है। मेघ पृथ्वी को गर्भाधान कराता है। अथर्व वेद के प्राणसूक्त मे मेघ को पृथ्वी का ब्रह्मचारी कहा है—

अभिक्रन्दन् स्तनयन्नरुण शितिगो बृहच्छेपोऽनु भूमौ जभार।
ब्रह्मचारी सिचति सानौ रेत पृथिव्या तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्र ॥
अथर्व० ११।५।१२।

अर्थात्, घोर गर्जन और अभिक्रन्दन करनेवाला, भूरे और काले रग

से युक्त, बृहत् जननवाला[1], ब्रह्मचारी (ब्रह्म या उदक का वहन करनेवाला) मेघ भूमि का भरण करता है। वह पर्वत और पृथ्वी पर रेत का सिंचन करता है जिससे समस्त दिशाएँ जीवन धारण करती है। इस मन्त्र में केश बढाये हुए इन्द्रियवान् ब्रह्मचारी और मेघ की तुलना की गई है। दोनो पहले स्वय तपकर आत्मगर्भित होते है। उसके पश्चात् ही गर्भाधान की क्षमता आती है।

मेघ आकाश मे आकर जब गरजते है तब पृथ्वी को रोमाच हो आता है। इस सात्विक भाव के उदय मे ही सब लोगो का कल्याण छिपा है। पृथ्वी मे से शिलीन्ध्र निकलकर इस बात की पुष्टि करते है कि इस वर्ष खूब वृष्टि होगी, पृथ्वी गर्भ धारण करेगी और उससे वीर्यवती ओषधियो का जन्म होगा। मेघ के गर्जित का वर्णन करनेवाला निम्न श्लोक संस्कृत साहित्य के उन विरल श्लोकों मे है जिनमे सरस्वती अश-रूप मे नही कृत्स्नश व्यक्त हो जाती है—

कर्त्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामवन्ध्या
तच्छ्रुत्वा ते श्रवणसुभग गर्जित मानसोत्का:।
आकैलासाद्बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्त,
सपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसा सहाया ॥१।११॥

इसमे पृथ्वी और आकाश दोनो लोको का सम्मिलन है। मेघ का गर्जन भूमि तक आता है, उससे पृथ्वी मे कन्दली फूटती हैं। पृथ्वी अपने यहाँ से हस भेजती है जो मेघो को आकाश मार्ग से अलका का मार्ग दिखाते है। बिस-किसलय का शबल कल्पित करके आकाश मे उड़ते हुए राजहंस कैलाश तक मेघ को पहुँचाने जाते हैं। राजहस अलका के अमर लोक की यात्रा प्रति वर्ष करते हैं, उसी अलका के समीपस्थ यद्यपि मानसरोवर है पर अलका की वापी मे निवास करने से हंस मानस को भी भूल जाते है।[2] राज-योग साधनेवाले योगी हंस भी हर सवत्सर मे अपने

१—इन्द्र की एक संज्ञा बृहद्रेणु है। 'बृहद्रेणु इन्द्रच्यवन बन कर मानुषी कृष्टियो का सहायक हुआ' ऋ० ६।१८।२। (रेणु = रेत)।

२—यस्यास्तोये कृतवसतयो मानस सन्निकृष्टं, नाध्यासन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य हंसा: ॥ मे० २। १६ ॥

चक्रो[1] का वेध करके कैलास, शिवलोक या सहस्रदल कमल की यात्रा कर आते हैं। जो स्वय पथ को देख आया है वही दूसरो को वहाँ ले जा सकता है। अतएव नभ मे राजहंस कैलास तक मेघ के साथ जाते है।

वृष-पुरुष के सम्पर्क से योषित् सुरभित परिमल का उद्गिरण करती है। उसी प्रकार पृथ्वी भी मेघ के निष्यन्द से उच्छ्वसित गन्धवाली हो जाती है।[2] पर्वत भूमि के धारण करनेवाले भूधर है। वे मेघ के साथ आत्मीय का व्यवहार करते है। रामगिरि तो मेघ को सुहृत् के तुल्य प्राणो से भी अधिक प्रिय मानता है। दोनो का सम्मिलन चिर विरह का पर्यवसान सूचित करता है, इसलिए रामगिरि के नयनो से उष्ण वाष्प की धारा निकलने लगती है—

काले काले भवति भवतो यस्य सयोगमेत्य,
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहज मुचतो वाष्पमुष्णम् ॥१।१२॥

रामगिरि जड़ शिलाओं का संघात नही, उसमे सौहार्द भाव से भरा हुआ मित्र का हृदय छिपा है। एक बार दयिता का प्रेम भले ही शिथिल पड जाय, परन्तु मित्र का प्रेम त्रिकाल मे भी स्खलित नही होता—

दयितास्वनवस्थित नृणा न खलु प्रेम चलं सुहृज्जने ॥कु० ४।२८।

रामगिरि की महिमा का रहस्य इस अध्यात्मस्वरूप मे है—

वन्द्यै पुंसा रघुपतिपदैरंकित मेखलासु ॥१।१।१२॥

अर्थात् रामगिरि की आत्मा रघुपति के पदो से अकित होकर महनीय बनी है। इसी कारण वह वस्तुत. तुग है। (तुगमलिङ्‌ग्य शैल १।१२)

माल क्षेत्र तो मेघ के अभिवर्षण की वाट जोह रहा है। आम्रकूट की शोभा मेघ के सम्पर्क से 'अमर मिथुन प्रेक्षणीय' हो गई है। आम्र काननो के पाण्डु-विस्तार को भूमि की स्तनच्छवि प्राप्त कराने मे मेघ ही कारण है, मानो आम्रकूट के जड शरीर मे मेघ ने चैतन्य का प्रवेश करा

१—राजहंस या परमहस योगी बिसकिसलय अर्थात् पद्मो का आधार करते हुए ब्रह्माण्डस्थित शिव के दर्शन प्रतिवर्ष करते है। एक संवत्सर साधना का एक कल्प है।

२—त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधा गन्ध······मे० १।४२।

दिया है जिससे देवताओ की लालसा भी उस ओर प्रवृत्त हुई ।[1] जिस भूमि को तुम्हारे गर्जन ने रोमाचित कर दिया था उसके ही स्तन पर आरूढ होकर तुम विश्राम करोगे । अमर-मिथुन तुम्हारे इस कामरूप को देखकर प्रसन्न होगे । नीचै नामक पर्वत मेघ के सम्पर्क से पुलकित हो गया है । उसकी प्रत्येक शिला से उत्कट वृष-शक्ति की सुगन्ध निकल रही है । हे मेघ, तुम्हारे वहाँ विश्राम का हेतु यही है कि तुम पुरुष-स्त्री मे व्याप्त उद्दाम यौवन का परिचय पाकर अपना आगमन सफल समझो । इन पर्वतो से आगे बढने पर देवगिरि, हिमालय और कैलास के साथ तुम्हारा आध्यात्मिक सम्बन्ध होगा । देवगिरि स्कन्द की वसति है, वहाँ पुष्पार्पण से उनकी पूजा करना । जिस मघवा के तुम प्रधान पुरुष हो उसी की रक्षा करनेवाले सेनानी स्कन्द है…

तत्र स्कन्द नियतवसति पुष्पमेघीकृतात्मा,
धारासारै स्नपयतु भवान् व्योमगगाजलार्द्रै ।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीना चमूना
नत्यादित्य हुतवहमुखे सम्भृत तद्धि तेज ॥ मे० १।४३॥

हे मेघ, देवगिरि मे नियत रूप से बसनेवाले सेनानी स्कन्द को तुम पुष्पवर्षक बनकर आकाश गगा के जल मे भीगे हुए फूलो की मूसलाधार वृष्टि से स्नान कराना । देवसेना की रक्षा के लिए शिवजी ने अग्नि के मुख मे सूर्य से भी अधिक प्रकाशमान् जिस तेज का सभरण किया है, वही स्कन्द है । उसकी पूजा मे आत्म-समर्पण करना तुम्हारे लिये उभय-लोक मे परमोच्च सौभाग्य है । आगे चलकर कैलास के अतिथि होना । यह कैलास उन्ही शकर का राशीभूत अट्टहास है (राशीभूत प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहास —१।५८) जिन्होने कभी तुम्हारे कामरूप को भस्म कर दिया था और अब फिर दूसरी बार जिनके लोक को जाने का तुमने उपक्रम किया है । पर यह यात्रा अभिमानी जुझारू योद्धा की नही है, अब की बार तो एक श्रद्धालु अपने आराध्य देव को भक्ति-नम्र होकर स्थिर

१—छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभि काननाम्रै,
त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे ।
नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्था,
मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः ॥ मे० १।१८ ।

पद की प्राप्ति के लिए प्रणाम करने चला है—

तत्र व्यक्त दृषदि चरणन्यास मर्धेन्दु मौले
शश्वत्सिद्धैरुपचितवलि भक्तिनम्र. परीयाः। (मे० १।५५)

चैतन्य के अन्तर्मुख और बहिर्मुख या अध्यात्म और अधिदैव स्वरूपो का साथ-ही-साथ यहाँ सुन्दर मेल कराया गया है। जड दृष्टि के लिए सब पर्वत ही है, परन्तु चैतन्य के लिए आम्रकूट और देवगिरि-कैलास में आकाश-पाताल का अन्तर है। मेघ का सम्बन्ध दोनो से है, पर एक जगह भोग है, दूसरी जगह सयम; एक मर्त्य है, दूसरा स्वर्ग्य, एक उज्जयिनी है, दूसरी अलका। दोनो भागों का समन्वय ही उत्तम पथ है। यही 'प्रयाणानुरूप' मार्ग है, क्योकि यदि मानव-देह पंच विषयो से एकान्त असस्पृष्ट रह सकती तो विधाता ही इन्द्रियों को बहिर्मुखी क्यो बनाता (कठ उ० ४।१, पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू)। मेघ को वेद मे सिन्धुओं का वृषभ कहा गया है। यक्ष ने मार्ग का कथन करते हुए कितने ही स्रोतो का वर्णन किया है जिनका जल पानकर मेघ अपनी क्षीणता दूर करेगा (क्षीण क्षीण परिलघु पय स्रोतसा चोपभुज्य)। प्रबल उद्वेग से बहती हुई नदियाँ सूचित करती है कि वे अपने सुभग पुरुष के साथ रसाभ्यन्तर होने जा रही है। वर्षा के सलिल को अपने गर्भ मे धारण करनेवाली नदियाँ ही है। उनके भरकर चलने के दृश्य को और कम्पायमान होकर बरसनेवाले[1] मेघ को एक साथ देखता हुआ यक्ष सोचता है कि इन नायिकाओ को अवश्य मेघ के दर्शन-स्पर्शन से ही इतने भाग लगे है। जो नदियाँ ग्रीष्म के प्रचण्ड ताप मे या यो कहे कि मेघ के विरह मे वेणी के समान पतली धारवाली हो गई थी (वेणीभूत प्रतनु सलिला) वे ही अब मेघालोक से अन्यथावृत्ति हो रही है। चंचल उर्मियों वाली वेत्रवती के इतराने का ठीक ही नही है। जब सब के मान घट गए है, तब भी वह सभ्रूभग मुख से अपने कनिक्रदत् पति का आवाहन कर रही है—

तीरोपान्तस्तनितसुभग पास्यति स्वादु यस्मात्
सभ्रूभग मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि॥

१—तद्यत्कम्पायमानो रेतो वर्षति तस्माद्वृषाकपिः, तद्वृषाकपेः वृषाकपित्वम्—गोपथ ब्रा० उत्तर भाग ६।१२।

वारि धाराएँ अहर्निश जिसके प्रताप से बहती है, वह रस का पोषक मेघ ही है। जब तक रस-निर्भर पयोद की श्री अक्षुण्ण है, तब तक निर्विन्ध्या को अपने सौभाग्य पर अभिमान करने से कौन रोक सकता है ? वह उन्मादिनी बनकर कही आवर्तरूप नाभि को प्रकटकर चलती है, कभी विहग-पंक्तिरूप काँचीदाम को झकारती हुई इठलाती है। यह सब इतराना उसी कामरूप पुरुष के ऊपर निर्भर है जिसने अचेतन मे भी चेतन का मन्त्र फूँक दिया है। ये वर्णन केवल प्राकृतिक ही नही है, इनमे प्रकृति चेतन मनोभावो से सक्रमित होकर चेतन की तरह ही सारे व्यवहार करने लगी है। इन व्यवहारो का साक्षी, भोक्ता और नियन्ता पुरुष मेघ के रूप मे सदा सर्वत्र प्रस्तुत होकर साथ-साथ चलता है। इसके कारण कालिदास के प्रकृति-चैतन्य में इतनी अधिक सजीवता आ गई है कि उसकी उपमा केवल प्रकृति के उपासक विश्व के अन्य कवियो मे कही नही मिलती। कवि का मेघ चैतन्ययुक्त है, अतएव उसमे मन-बुद्धि की कल्पनाएँ भी हैं, जिनके द्वारा वह अमरकण्टक और कैलास के भेद को जानकर अपने अध्यात्म की सिद्धि भी करता है। वह निर्विन्ध्या के साथ तो विलास करता है, परन्तु सरस्वती के जल का पान करके अन्त करण को शुद्ध करता है।[1] चेतन प्राणी ही इस प्रकार का

१—कृत्वा तासामभिगममपां सौम्य सारस्वतीना
मन्तः शुद्धः त्वमपि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः ।। मे० १।४६।
सरस्वती देवनदी है। स्वयं ब्रह्माजी ने उसके किनारे तपस्या करके श्रुतियो का प्रकाश किया। अनेक ऋषियो के तपोवन सरस्वती के किनारे थे। सारे राष्ट्र ने जिस सरस्वती की इतनी महिमा मानी हो, मेघ भी उसे पूज्येतर भाव से नही देख सकता। कवि ने मेघ के शरीर और आत्मा को यहाँ स्पष्टता से पृथक्-पृथक् देखा है। पुरुष का बाह्य वर्ण भले ही काला हो, वह नश्वर शरीर की उपाधि है। चेतन का सर्वस्व तो अन्तःकरण है, वह विशुद्ध चाहिए। अब तक मेघ ने जितने काम-विलास किये है, सरस्वती तीर्थ के जलपान से सबकी शुद्धि होती है। अब तपोभूमि देवातात्मा हिमालय का आरम्भ है। पितुः प्रदेशास्तव देवभूमयः, अर्थात् गौरीगुरु अद्रिराज देवभूमि है। वहाँ गंगा, हरद्वार, हरचरण न्यास, मुक्त त्रिवेणी,

विवेक रखते हुए स्वर्ग और ससार दोनो सिद्ध कर सकते है। कवि को पाठको की धार्मिक मनोवृत्ति पर प्रभाव डालने के लिए अन्य प्रकृति-कवियो की भाँति कुछ धर्म-नीति नही कहनी पडती, वह मेघकृत व्यवहारो से ही सब कुछ सिद्ध करा लेता है। मेघ सक्रिय बनकर व्युत्पन्न व्यवहार करता है, वह निष्क्रिय और निरपेक्ष नही है। प्रकृति पग-पग पर पुरुप के वश मे और उसकी लीला से अवधूत मालूम होती है। इसी बात से मेघदूत का प्राकृतिक जगत् अत्यन्त हृदयहारी हो गया है।

वियोगिनी सिन्धु विरह मे पाण्डुवर्ण होकर प्रिय समागम की उत्कण्ठा से किसी प्रकार शरीर धारण कर रही थी। उसमें शृङ्गार के विभ्रम नही है, तपस्या ही उसका पातिव्रतोचित गुण है। मेघ को चाहिए कि उसकी कृशता को दूर करे। उसकी तनुता मे मेघ के सौभाग्य की व्यजना है। यदि मेघ उस अर्थ पर ध्यान नही देता, तो सिन्धु नदी तो एक दिन नि शेप हो ही जायगी, पर मेघ का सौभाग्य-सिन्धु भी सूख जायगा—

सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यजयन्ती,
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्य:। मेघ १।२९।

और वह गम्भीरा जिसका नितम्ब इस समय विवस्त्र हो गया है किसी समय इतनी विषयो से पराङ्मुखी थी कि उसे पुरुष दर्शन की चाह न थी। पर सदा एक-सी अवस्था नही रहती। गाम्भीर्यगुण[1] के

कैलास और मानसरोवर है। कैलास तो खं ब्रह्म में वितान की तरह तना हुआ है। यहाँ तप के स्थान है, भोग तो सरस्वती से पहिले ही निवृत्त हो चुका है। कवि ने सरस्वती से आगे मेघ के विलास का वर्णन नहीं किया। सरस्वती के जलो का आचमन करके मेघ अन्तः शुद्ध बन चुका है।

१—अन्तर्जातस्य क्षोभस्य बहिर्लक्षणा भावो गाम्भीर्यम्। अर्थात्, अभ्यन्तर में उपजे हुए क्षोभ को बाहर प्रकट न होने देना गाम्भीर्य गुण है (रूपगोस्वामी कृत उज्ज्वलनीलमणि की टीका में जीव-गोस्वामी) यह गुण जिसमे हो वह गम्भीरा नायिका है। कुछ दिन तक तो गम्भीरा अपने गुण को रख सकी पर अन्त मे उसके भी नेत्र कटाक्षपूर्ण हो गए, अर्थात् उसके इंगिताकार अविदित न रह सके।

ह्लसित होने पर गम्भीरा के सैन चलने लगे।[1] वह प्रसन्नचित्त हुई। उसका अगाध जल प्रसन्न अर्थात् प्रतिविम्ब ग्रहण करने के योग्य हो गया। उसके जल मे शफरी फरफराने लगी। उत्कण्ठा से परवश हुई गम्भीरा ने मेघ के प्रकृति-सुन्दर विम्ब को अपने मे ग्रहण किया। उत्कण्ठिता के हृदय मे जब नायक की छाया प्रवेश पा ले तब नायक को उसके अनुराग का निश्चय हो जाना चाहिए। ऐसे समय मेघ को उपदेश है कि वह अपने धैर्य को पकडकर न वैठा रहे—अपनी मयमकृत जड़ता से गम्भीरा के कटाक्षो को व्यर्थ न करे—

गम्भीराया पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने,
छायात्मापि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम्।
तस्मादस्या कुमुदविशदान्यर्हसि त्वं न
धैर्यान्मोघीकर्तु चटुलसफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि ॥ १।४० ॥

वह धैर्य क्या है इसे कवि ने ही अन्यत्र वताया है—

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येपा न चेतासि त एव धीरा.

—कुमारसम्भव १।५६।

अर्थात्, विकार-हेतु उपस्थित होते हुए भी जिनके चित्त विकृत न हों वे ही धीर है। उन्ही का भाव धैर्य गुण है[2]। हे मेघ, जब गम्भीरा

१—अनुभाव जो नायिकाओ मे पाए जाते हैं दो प्रकार के होते है—चित्रज अर्थात् अन्तःकरण सम्वन्धी और गात्रज अर्थात् वाह्य या देह सम्वन्धी। गम्भीरा नायिका का गाम्भीर्य गुण उसका चित्रज अनुभाव है। भ्रूभग, कटाक्ष, आनन-विकारादि गात्रज है।

२—विकार हेतु रहते भी विकार का अभाव धैर्य है। विकार हो जाने पर उसको प्रकट न होने देना गाम्भीर्य है। धैर्य में मनोभावो की समता का नाश नहीं होता; गाम्भीर्य की आवश्यकता क्षुब्ध मनोभावो को छिपाने के लिए होती है। कालिदास के अनुसार यही धैर्य और गाम्भीर्य के लक्षण है। रसार्णव सुधाकर के कर्ता श्रीशिंग भूपाल इन लक्षणो से तो सहमत हैं परन्तु नामो में कुछ भेद है—

सर्वावस्थासमत्वाविदितेंगिताकारत्वयोर्लक्षणयोः चित्तधैर्य एवान्तर्भू-तत्वाद् भोजराजलक्षितौ स्थैर्यगाम्भीर्यरूपावन्यौ द्वौ चित्तारम्भौ

का गाम्भीर्य जाता रहे, तब उसके पुरुषरूप तुमको धैर्य धारण करके सयम का अभ्यास करना उचित नही है। पत्नी की काम-विह्वलता विकृति है। विकृति से मिलने के लिए मेघ को भी विकृति मे जाना पडेगा। प्रकृतिस्थ रहने से प्रेम-ग्रन्थि नही लग सकती। बिना प्रेम-गाँठ लगे प्रकृति का पुरुष मेघ विकार को प्राप्त हुई गम्भीरा का उद्धार नही कर सकता।

वस्तुतः बात इतनी ही है कि जब तुम बरसोगे तो गम्भीरा का उथला नीर गम्भीर हो जायगा। परन्तु विश्व मे काम-संकल्प के जगाने-वाले चेतन पुरुष के जीवन-चरित्र मे इतने से क्या काम चलता ? उस विराट् ग्रन्थ मे प्रतनु नदी वीचियों को भ्रू विलास और सफरियो के फर-फराने को कटाक्ष कहकर पढाया जाता है। यह भी सत्य है कि कालिदास के समान उस ग्रन्थ का गम्भीर किन्तु प्रमोदपूर्ण पारायण आज तक कोई नही कर सका।

पृथ्वी, नदी, पर्वतो से एक कोटि ऊपर जब हम वनस्पति जगत् की ओर दृष्टिपात करते है तो ऐसा ज्ञात होता है कि मेघ के आने से समस्त पुष्प, फल, ओषधि, तरुलता आदि स्फूर्ति और चेतना से उच्छ्वसित हो रहे है। कारण यह है कि वनस्पतियो का पोषक आहार या पूषा देवता पय अर्थात् जल है (स वनस्पति· उ वै पयो भोजनः)। उस पय के वर्षक मेघ है। मेघ प्राणरूप से सबको जीवन देते है। इसी महान् प्राण-भण्डार को पाकर प्रजाएँ आनन्दरूप होती है कि अब अन्न की उत्पत्ति होगी। यथा—

यदा त्वमभिवर्षस्येमाः प्राण ते प्रजा।

चास्मदुक्ते धैर्य एवान्तर्भावाद् दशैव चित्तरम्भाः (पृ० ५२)। अर्थात् धैर्य के दो भेद है—स्थैर्य और गाम्भीर्य। स्थैर्य कहते है सर्वावस्था समत्व अर्थात् सब अवस्थाओं में सम रहने को (विकार हेतौ अविकारः); गाम्भीर्य के अर्थ है अविदितेंगिताकारत्व, अर्थात् विकार हो जाने पर उसे प्रकट न होने देना। इस तरह कालिदास के धैर्य को इन्होंने स्थैर्य नाम दिया है और स्थैर्य-गाम्भीर्य दोनो को धैर्य के ही अन्तर्गत मान लिया है। आलंकारिकों ने मनोभावों के यथार्थ वर्गीकरण की ओर कितना सूक्ष्म ध्यान दिया था, यह देखने योग्य है।

आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्न भविष्यतीति ।।प्रश्न उ०२।१० ।

अन्न के अधीन प्राण हैं। दोनों मे स्थूल-सूक्ष्म का ही भेद है। इसलिए प्राण के सम्मुख ऊर्जावाली ओषधियाँ नाना भाँति से अपनी प्रसन्नता प्रकट करती है। अथर्ववेद मे लिखा है[1] कि 'जब स्तनयित्नु गर्जनशील प्राण मेघ के रूप मे ओषधियो के समक्ष शब्दायमान होता है, तब ओषधियाँ नवीन वर्चस के साथ गर्भ धारण करके नाना रूपो में उत्पन्न होती है। जब ऋतुकाल मे ओषधियो के समक्ष प्राण गरजता है, तब जो कुछ भी इस पृथ्वी पर है सब ही विशेष आनन्दित होता है।' सींची हुई ओषधियाँ प्राण से बोली—"हे सोम[2], तूने हमारी आयु को बढ़ाया है, तूने हमे गन्धयुक्त किया है।"

सावन आया नही कि कुरैया के नये कुसुम निकल आए। उन्हे यक्ष ने प्रसादरूप से मेघ के ही अर्घ्यदान मे चढा दिया है। कही स्थल कदम्ब के मुकुलो की केसर कुछ-कुछ खुलने लगी है। उनके हरे-पीले और कुछ श्याम रग के अधखिले फूल मानो मेघ का मार्ग सूचित करने के लिए ही जगलो मे झूम रहे है। जलाशयो के निकट कदलियों मे भी मुकुल निकल आए है। कही कदम्ब प्रौढ-पुष्प हो जाते हैं, कही आम पककर पीले और रसीले होकर टपकते है। इन आम्र काननो ने आम्र-कटक को शृगार से सज्जित किया है। भौराली काली फूली जामुनें जम्बू-कुजो से नदियो मे टपकती है। अन्तरिक्ष मे मेघ को तृप्त करनेवाली

१—युत्प्राण स्तनयित्नुनाऽभिक्रन्दत्योषधीः ।
प्रवीयन्ते गर्भान् दधतोऽथो बह्वीर्विजायन्ते ।।
यत् प्राण ऋतावागतेऽभि क्रन्दत्योषधी. ।
सर्वं तदा प्रमोदते यत् किं च भूम्यामधि ।।
अभिवृष्टा ओषधय प्राणेन समवादिरन् ।
आयुर्वै नः प्रातीतरः . सर्वा नः सुरभीरकः ।।
—अथर्व ११।४।३, ४, ६ ।

२—सोमेति—प्राण का ही एक नाम सोम भी है जो रसों से ओषधियो को पुष्ट करता है । गीता में कहा है—पुष्णामि चोषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः (गीता १५।१३) । प्राणो वै सोमः—शतपथ ७।३।१।४५ ।

शीत वायु पृथ्वी पर उदुम्बर काननों को पकाती है। यूथिकाओं के समूह-के-समूह सौरभ का विस्तार करने लगे हैं। निचुल या वेतस के लिए तो वर्षा अमृतकाल ही हैं।

वानीर को अभ्र पुष्प अर्थात् बरसात में पुष्प धारण करनेवाला कहते है। सूचिभिन्न केतकी के कुसुमो से उपवनो की बाड़े हरी-हरी लगने लगती है। विदिशा से अवन्ती तक असख्य उद्यान और उपवन है। उनमे पुष्प चयन करनेवाली किशोरियो के मुख का परिचय मेघ प्राप्त करता है। जलद काल मे अरविन्द कहाँ, पर पुष्पावलियों के मुखारविन्द वर्षा के मैले जल मे भी खिले रहते है। मेघ-काल मे न हंस होते है, न अरविन्द। कल्मप-कलुषित ऋतु मे राजहश और पद्म दोनों ही मानसरोवर को चले जाते है। हंस को कवि ने 'विसकिसलयच्छेद पाथेयवन्त.' कहकर सूचित किया है कि हसों का जीवनाधार पद्म है। जिस वृष्टि से हसो की हानि होती है, उसमे पद्मो को पहले ही सकुचित होना पडता है। पद्मो के विकास के लिए उपयुक्त तो निरभ्र आकाश-वाली शरद्-ऋतु ही है।[1] वर्षा मे कमल रहे भले ही, पर उन्हे अर्जुन के तीरो के समान कर्कश वृष्टि और बूंदो की मार सहनी पड़ती है—

राजन्याना सितशरशतैर्यत्र गाण्डीवधन्वा।
धारापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्यवर्षन्मुखानि॥ मे० १-४८।

मेघ की प्रेरणा जैसे वायु के अधीन है, वैसे ही वायु भी मेघ अनु-शासन मे चलती है। कैलास पर पहुँचकर मेघ को वायु की इच्छानुसार कल्पद्रुम के नये किसलयों को धुनकर उसके आनन्द की वृद्धि करनी होती है। (धुन्वन्कल्पद्रुम किसलयान्यशुकानीव वातैः १।६२)। कैलास पर मानस, कल्पद्रुम, मन्दार, मन्दाकिनी, एक-से-एक दिव्य वस्तु है। खब्रह्माण्ड को तानकर खड़े हुए कैलास[2] के अतिथि के लिए संसार के किस पदार्थ की अभिलाषा शेष रहेगी जिसकी पूर्ति कल्पद्रुम से हो

१—मानुषी देह मे जब वर्षा ऋतु आती है तब उसके चक्र (पद्म या कमल) भी श्रीहत हो जाते है। शरीरस्थ वृषशक्ति जब उत्तरायण मार्ग की ओर जाती है तभी वे कमल खिलते है।

२—कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्याः।
शृंगोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खं॥—मेघ० १।५८।

सकेगी ? अष्टसिद्धि और नवनिधियो का मूर्तिमान् रूप कल्पद्रुम है। शिवलोक मे पहुँचकर वृष को इस देवतरु के साथ आनन्द सम्मिलन के सिवाय और किसी वस्तु की चाह नही रहती।

वृक्ष और वनस्पतियो से अधिक व्युत्पन्न श्रेणी पशु-पक्षियो की है। मेघ-काल में उनके आनन्दातिरेक की सीमा नही रहती। "जब प्राण मेघ के रूप मे मही पर बरसता है तब पशु प्रमुदित होते है कि अब हमारी बढती[1] होगी।" इसी सवर्द्धन के भाव से प्रेरित होकर दशार्ण देश के गृहवलि खानेवाले कौवे गलियो के पेड़ो पर घोसले रखने लगते हे—
नीडारम्भै. गृहवलिभुजामाकुलग्रामचैत्या ।

इतने छोटे से प्राणियो में भी गृह-संवेशन और गृहस्थ बनने के भाव को उपजानेवाला मेघ ही है। इस प्रकार जो सर्वत्र द्वैत के बीज बोता है, उसकी व्यजना को समझकर यक्ष का विह्वल हो जाना कौनसी बात है ? सगर्व चातक का मन्द-मन्द नाद वर्षाकालीन मेघो को ही सम्बोधन करके प्रवृत्त होता है (वामश्चाय नदति मधुर चातकस्ते सगन्ध. १।९)। चातक औरो से तो क्या, मेघ भी यदि ऋतु बिताकर आवें तो उनसे जल नही माँगता—
स्वयस्तु ते निर्गलिताम्बुगर्भ शरद्घन नार्दति चातकोऽपि। रघु० ५।७।

यही चातक की अहम्मन्यता है। और जिस भावनाप्लावित हृदय से बिसकण्ठवाली बक-बालाएँ मेघ के समीप जाती हैं, उसकी चेतना का आभास भी क्या हमे कभी प्राप्त हो सकेगा ? पंक्ति बाँध-बाँधकर मेघ से ही गर्भाधान का उत्सव मनाने के लिए[2] बलाकाएं काले बादलो मे उड़कर जाने का प्रयास करती हैं—

गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमाला,
सेविष्यन्ते नयनसुभग खे भवन्त बलाका: ।।मे० १।९।

१—यदा प्राणो अभ्यवर्षीद्वर्षेण पृथ्वीं महीम्। पशव: तत्प्रमोदन्ते महो वै नो भविष्यति—अथर्व ११।४।५।

२—शंकराचार्य ने शारीरक भाष्य में इसकी ओर संकेत किया है—
बलाका चान्तरेणैव शुक्रं गर्भं धत्ते······बलाकाच स्तनयित्नु रव श्रवणाद्गर्भं धत्ते—२।१।२५। बलाकाएँ बिना शुक्र के, केवल मेघगर्जन को सुनकर ही गर्भ धारण करती है।

मेघों को देखकर सारस किलकारी मारते और मोर आनन्द से नाच उठते है। जलद के लिए मयूर से अधिक प्रिय सुहृद् और नही है।[1] नीलकठ शिखी और यक्ष मे भी एक समानता है। यक्ष मेघ को देखकर आँखो मे आँसू भर लाया (अन्तर्वाष्प १।३) तो मोर के सिवाय और किसी प्राणी ने भी सजलनयन होकर मेघ की स्वागत क्रिया नही की—
शुक्लापागै· सजलनयनैः स्वागतीकृत्य केकाः १।२२।

अध्यात्म पक्ष मे जब वृषरूप मेघ शिव के लोक को चला, तब कुमार के वाहन मयूर का आनन्द-नृत्य करना स्वाभाविक ही है। भवानी-पुत्र स्कन्द पावक के भी पुत्र है। उनकी एक सज्ञा पावकि है (मे० १।४४)। इनका जन्म इन्द्र की सेनाओ की रक्षा के लिए अग्नि के मुख मे सम्भृत होते हुए शिव के तेज से आज्ञाचक्र के बाद सहस्रार पद्म या शरो के वन मे हुआ है—

रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीना चमूना
मत्यादित्यं हुतवहमुखे सम्भृतं तद्धि तेज।

उनके जन्म से पूर्व शिव के परिवार मे सर्पो की प्रबलता थी। स्कन्द के जन्म से सर्प और मयूर विगत-वैर होकर बसते है। कौन वे कुमार और कौन उनका वाहन है, कौन सर्प है और अग्नि कौन है—यह विमर्श 'शिव का स्वरूप' नामक अध्याय मे होगा।

विश्व-सौन्दर्य के अन्तर्जगत् और बाह्य-जगत् नामक दो भेद करके बाह्य-जगत् मे जड़ और चेतन नाम के दो उपभेद हमने किये थे। वस्तुतः अन्तर्जगत् से अनुप्राणित होकर देखने से सबमे ही चेतना का साम्राज्य दीखता है। परन्तु चेतन जगत् मे भी स्त्री-सौन्दर्य चेतना का अत्यन्त उत्कृष्ट शक्ति-केन्द्र है। वनिताओ के मन मे मेघ को देखकर जिस काम-जलौघ का पूर उमड़ता है, उसकी व्याख्या विस्तार से मेघदूत मे की गई है। नायिकाएँ क्या है? वे काम की अभिव्यक्ति के विशेष रूप है। काम या वृष सार्वभौम है, परन्तु उसका प्रकाश भिन्न-भिन्न केन्द्रो मे अपनी-अपनी रीति से होता है। काम यदि आत्मा की तरह विश्वव्यापी माना जाय, तो नायिकाएँ शरीर की भाँति पृथक्-पृथक् है। यह अश

५—नीलकंठ: सुहृद्वः, मे० २।१७।
बन्धुप्रीत्याभवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः। मे० १।३२।

परिवर्तनशील है। उपासना का अमर भाग तो प्रेम है। प्रेम और काम सर्वत्र और सदा एक ही रहते है। वस्तुत: मेघ का कामरूप ही सर्वग्राह्य है। प्रियागमन के प्रत्यय से जीती हुई पथिकवनिताएँ, भ्रूविलासानभिज्ञ जनपद-वधुएँ, रतिपरिमलोद्‌गारि पण्यस्त्रियाँ, चचल कटाक्षवती पौरांगनाएँ, महाकालेश्वर की लीलावधूत नर्तकियाँ तथा खण्डिता और अभिसारिकादि नायिकाएँ—इन सबके मानस मे काम-सरोवर लबालब भरा है। ये स्त्री-जगत् की प्रतिनिधि है और अपने अधिकृत क्षेत्र के अनुसार मेघ से सम्बन्ध स्थापित करती है। हमारे अपने ही शरीर मे काम की अनेक वृत्तियाँ इन स्त्रियो के रूप मे बसी हुई है जिनका नायक मेघ या वृषा काम है। इन सबके काम की गठरी बाँधकर मेघ शिव के लोक मे पहुँचा दे यही उस दूत की अलका-यात्रा है। जहाँ-जहाँ रस है मेघ उसकी पुष्टि करता है। पृथ्वी, नदी, ओषधि, स्त्री, सब मेघ-सम्पर्क से रसाप्लुत हुई है। मनुष्य का अर्धभाग योषित् है। इसलिए स्त्री ही उसके लिए विश्व मे सबसे अधिक आकर्षण की वस्तु है। काम के सर्वतोमुख अनुभव का साधन पुरुष के लिए स्त्री के सिवाय और प्रकृति ने रचा ही नही। हम लोग पुरुष की स्थिति मे जगत् को देखते है, इसी कारण स्त्री के विप्रयोग का अन्त करने के लिए ही हमारा मेघदूत प्रवृत्त होता है। विज्ञान के अनुसार पुरुष के शरीर में प्राण और रयि (masculine and feminine) दोनो कोष बसते है। इसी प्रकार स्त्री के शरीर मे भी दोनो कोष पाए जाते है। परन्तु पुरुष के अग मे प्राणात्मकोषो या अग्नि की प्रधानता है और स्त्री मे रयित्व या सोम की प्रधानता है। अग्नि प्रजननात्मक रेत का काम करती है और सोम उसका भरण-पोषण करता है।[1] अग्नीषोम की एकता ही सृष्टि का सबसे रमणीय कार्य है। इसीलिए पुरुष स्त्री की ओर स्त्री पुरुष की ओर आकृष्ट होती है। इनकी पूर्णता मे प्रकृति का योगक्षेम निहित है। 'प्रजा प्रजनयावहै' के मार्ग से अध्यात्म की ओर बढना ही अलका के इस ओर बसनेवालो की विशेषता है।

१—वेद मे इसी भाव को यो कहा है—रेतोऽहं, रेतोभृत् त्वम्—अर्थात् पुरुष रेत (active regenerative) और स्त्री रेतोभृत् (building or generative force) है।

काम के लिए शिव-लोक का उत्तरायण मार्ग बतानेवाला महाकवि जानता है कि इस यात्रा की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि मार्ग-स्थित जितने काम-शक्ति के केन्द्र है वे सब विलास करके श्रान्त हो जायँ, और मेघ सब पर विजय पाता हुआ 'हरशिरश्चन्द्रिका धौतहर्म्या' अलका के प्रासादो मे शान्ति से प्रवेश करे। अलका मे साक्षात् शिव का निवास है, परन्तु अलका के इस ओर भी अध्यात्म-पथिक को सहायता देनेवाले महाकाल शिव, नियत-वसति स्कन्द और हरचरण न्याय आदि दिव्य साधन है।

मेघ को आदेश है कि अलका के इस ओर के कामह्रदो को जितना क्षुब्ध कर सके करे। प्रियतम के मन्दिर को गुप्प अँधेरी मे जाती हुई घन-घोर रव से त्रस्त अभिसारिकाओ को रमण-वसति तक पहुँचानेवाला काम के सिवाय और कौन है—

रजनीतिमिरावगुंठिते पुरमार्गे घनशब्दविक्लवा: ।
वसतिं प्रियकामिना प्रियास्त्वदृते प्रापयितुं क ईश्वर. ॥

कुमारसम्भव ४।११ ।

कुमारसम्भव में घन शब्द विक्लवकारी है, परन्तु मेघदूत में वृष सज्ञक मेघ और वृषपति काम के स्वरूप की एकता की गई है। वह मेघ अपनी चेष्टाओ से अभिसारिकाओ को विकल करने के स्थान में उनके प्रापण मे सहायक होता है—

गच्छन्तीना रमणवसतिं योषितां तत्र नक्त,
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभि. ।
सौदामिन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वी,
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मास्म भूर्विक्लवास्ता: ॥ मे० १।३७ ॥

रात के समय जब सूचिभेद्य अन्धकार से राजमार्ग पर कुछ न सूझ पड़ता हो, तब जो अभिसारिकाएँ प्रियवसति तक जाती हों, उनके मार्ग को कसौटी पर स्वर्ण-खचित रेखा के समान चमकीली बिजली से आलो-कित कर देना, गरज-बरसकर उनको डराना मत। इसी प्रकार प्रात.-कालीन रागात्म भानु जब खडिता नलिनी के आँसू पोछने को अपने हाथ बढ़ावे, तब हे मेघ, तुम्हारे बीच मे पडने से वृथा असूया बढेगी, इसलिए मार्ग से हट जाना। (मे० १।३९)

गाढोत्कण्ठावाली विप्रयुक्ताओ के लिए मेघ को जो करना चाहिए

उसका वर्णन सारे उत्तर मेघ मे है ।

देवयोनियो मे भी मेघ कौतुको का अवतार कराता है । मुग्ध सिद्धांगना, अमरो के मिथुन, शिव के गण, सिद्धो के द्वन्द्व, किन्नरी और व्योमगति गन्धर्वादि सभी मेघ की स्फूर्ति से उत्तेजित होते है । उनको भी इस उत्तरायण मार्ग के यात्री की यात्रा मे विशेष कुतूहल है । अप्सराएँ तो जलात्मक वृष की ही चेष्टाओ के नाना रूप है । उनका जन्म जल-तत्त्व से है—अद्भ्य: सरन्तीति अप्सरस । वृष और सोम के अनन्त विलास ही अप्सरा रूप है । इन्ही के प्रलोभनो द्वारा इन्द्र तपस्या मे विघ्न डालते है । इन अप्सराओ के तेज को शुष्क करनेवाले सूर्य है जिनके पाद-मूल का उपस्थान बारी-बारी से वे सब करती है ।[1] पिंगला की ही सज्ञा सूर्य है जो अप्सराओ के तेज को अग्निमय करके सुरक्षित करती है ।

कवि ने प्रतिज्ञा की थी—जानामि त्वा प्रकृतिपुरुष कामरूप मघोन । उसी काम रूप के दर्शन हमने प्रकृति मे सर्वत्र घूमकर किए । अचेतन, चेतन मे कही भेद न मिला । जड़ रामगिरि के चिर विरहोत्पन्न उष्ण आँसू और यक्षिणी के वर्षभोग्यविरह से उत्पन्न गरम नि:श्वास एक ही नियम का सकेत करते है । प्रकृति की विराट् एकता ने चराचर को एक सूत्र मे बाँध रक्खा है । हमारे तमिस्रान्ध चक्षुओ को प्राय: अपनी महिमा के आगे कुछ सूझ नही पडता । पर कवि की सहस्राक्ष दृष्टि मे सब रहस्यो का प्रतिबिम्ब पडता है । इसलिए उसका मेघदूत सार्वभौम है । वह शुद्ध साहस से वेश्याओ के नखक्षतो को मेघ से मिलनेवाले सुख का भी वर्णन करता है, थोथी विरक्ति से नाक-भौ नही सिकोडता । यदि वारविलासिनी उसके वर्णन की पात्र न समझी जायँ, तो उसका सार्वभौम चित्र अधूरा रहे । ऐसा तभी होगा, जब कवि प्रकृति की सचाई से अपने अहकार को न बढ़ जाने देगा । यदि मेघ के आने से प्रतिव्रता यक्षिणी का हृदय उन्मथित हो जाता है, तो वेश्या नर्तकियो का रमणी-हृदय किस सयम मे बँधा रहेगा ? उस उद्दाम सरोवर मे सबसे पहले बाढ आवेगी । जब प्रकृति की वास्तविकता ऐसी है, तो कवि को क्या अधिकार है कि वह वेश्या-हृदय को पतित जानकर उपेक्षा करे । स्थूल दृष्टि रखकर

१—अप्सरो वारपर्यायेणेह भगवत: सूर्यस्य पादमूलोपस्थाने वर्तमाना बलवत्खलु उर्वश्या उत्कण्ठितास्मि—विक्रमोर्वशीये चतुर्थांके ।

ससार का वर्णन करनेवालों के लिए वेश्या, पतिव्रता और अभिसारिका में भेद हो सकता है और कदाचित् होना भी चाहिए। परन्तु अन्त:दृष्टि से प्रेरित होकर जो मेघ का कार्य देखता है उसकी दृष्टि में संसार के सभी दृश्य अपना प्रतिविम्व डालते है, उसका अनुभव अखण्ड या समग्र होता है, एकदेशीय या विभक्त नही। समग्र का ज्ञान करनेवाला यदि अध्यात्म का उपदेश देता है तो उसके द्वार पतित, वेश्या और पापी सवके लिए खुले रहते है। सांसारिक जीव अपने नीतिधर्म के उपदेश मे किसी को वहिष्कृत भले ही समझे, पर बुद्ध के लिए अम्वापाली का निमंत्रण भी कम मूल्यवान् नही। लिच्छवि-राजकुमारो के घरो मे यदि बुद्ध के चरणो की आवश्यकता है, तो इसी कारण से अम्बापाली का द्वार उनको और भी अधिक चाहता है। यह दृष्टि ज्ञानसम्पन्न बुद्ध की है। उनके हृदय मे प्राणिमात्र का मूल्य है और कोई जीव इतना नही गिरा है कि वह उठ न सके।

कवि की भी ज्ञान-सम्पन्न अन्तर्दृष्टि यही रहती है। पर उसका मार्ग काव्य के द्वारा चैतन्य के आनन्द की प्राप्ति है। काव्य मे कान्ता-समित उपदेश दिया जाता है। इसीलिए मेघदूत के अध्यात्म-ज्ञान का ऊपर से कुछ पता नही चलता। पण्यस्त्रियो के विलास के मूल मे कवि क्या वर्णन कर रहा है और उसकी निर्मित सृष्टि मे उनका क्या स्थान है, इसे हम वहुधा नही देख पाते। मेघ के साथ सवका सम्वन्ध जोडकर सव अच्छे-बुरे भावो को उत्तराभिमुख कराने मे उसका जो चरम लक्ष्य है, उसकी प्रतीति ऊपर से नहीं होती, क्योकि मेघदूत काव्य है, धर्मशास्त्र नही। फिर यह वात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि सब प्राणियो को अपने स्थान मे रहकर ही आत्मा का उद्धार करना है। हम अपने मनोभावो को उच्च वनाकर सदा आगे वढते रहे, पर एक स्थान से दूसरे स्थान मे अपनी लोक-स्थिति वदलते रहने से हमारे हाथ कुछ न लगेगा। मुख्य परिवर्तन मन का है। वह मन विराट् पुरुष को समर्पित रहे तो शरीर अपने आप सुधर जाता है। मेघदूत की समस्त प्रकृति अपने स्थान पर स्थित रहती है। केवल उसके भाव मेघ के साथ जाते है। स्वय यक्ष भी अवधि से पहले रामगिरि नही छोड़ सकता। हाँ, अपने सकल्पो और

विगणनाओ को वह मेघ के द्वारा अलका के लोक मे भेज सकता है।[1]

पशु, पक्षी, मनुष्य, देवयोनि सब पाश से बँधे हुए अपने स्थान मे कर्म कर रहे है, समय से पहले भौतिक पाशो का अन्त नही हो सकता, अपने मन को हम आज ही प्रकृति-पुरुष के साथ मिला सकते है। यही परिवर्तन सब कुछ है। मेघ को कामरूप पुरुष कहकर प्रकृति मे जहाँ कही उसका काम-सम्बन्ध है उस सबका ही वर्णन कवि ने एक-सी स्पष्टता और निर्भीकता के साथ किया है। इन सबके समवाय को वह पुरुष अलका मे ले जा रहा है। वह सर्वव्यापी बनकर सबका उद्धार करने मे यत्नशील है। विष्णु-मेघ के लिए सब कुछ अपने तेजांश से सम्भव प्रतीत होता है। उसके निकट त्याज्य और हेय कोई भी पदार्थ नही है। इस कारण चेतन और अचेतन, गणिका और पतिव्रता, उज्जयिनी के वासी और अलका के प्राणी, सब एक साथ उस मेघ-सन्देश को सुनते हैं जिसे यक्ष ने सुना है। अपने सस्कारो के अनुरूप ही उस सन्देश से सबको स्फूर्ति प्राप्त होती है। भोगियो मे भोग का भाव और प्रबल हो जाता है। इसी के वर्णन के कारण मेघदूत भोग-प्रधान काव्य प्रतीत होता है। परन्तु उसमे सयम और वैराग्य का जो छिपा हुआ तार है उसकी ओर लोगो का ध्यान नही जाता। ससार मे सबसे महनीय वस्तु 'स्वाधिकार' है। आत्म-नियोग या आत्मानुभूति ही परम श्रेय है। उसमे यक्ष ने जो जो असावधानता की उसका कारण भी उसका विषय-लिप्त हो जाना है। इस प्रमादजनित दण्ड की निराकृति के लिए शाप के वश होकर वह तपस्या कर रहा है। इस अनुभव की अवस्था मे सबसे महत्त्व की बात जो उसने सीखी वह यह है कि काम का सृष्टि मे क्या स्थान है, कहाँ तक यह आत्म-कल्याण का साधन है, और किस सीमा से आगे बढ जाने पर यह मनुष्य को नीचे गिरा देता है। वह नेत्र खोलकर देखता है कि प्रकृति द्वन्द्वमयी है।

१—हम सबको देश-काल के पाशो में सीमित करनेवाली माया (finitising principle) है जिसने हमे अनन्त से सान्त बना दिया है। प्रत्येक व्यक्ति देश-काल के जिस बिन्दु (intersecting point) पर खड़ा है वहाँ से वह भागकर नहीं जा सकता। उसका वह व्यक्तित्व उसी बिन्दु पर खड़े होकर देखता है।

उन दो भागों मे परस्पर आकर्षण सम्बन्ध का हेतु काम है। परन्तु वह काम सदा शिव के सान्निध्य मे रहना चाहिए। शिव से भस्म किये जाने पर ही उसे नवीन जीवन प्राप्त हुआ था। मेघदूत मे सैकड़ो तरह से कवि ने इस तत्त्व का वर्णन किया है। स्कन्द को पुष्पमेघी कृतात्मा होकर स्नान कराना, या भवानी को अपनी भक्ति से प्रसन्न करना, या हरचरण-न्यास की भक्ति-नम्र होकर परिक्रमा करना, या कैलास के अतिथि होना इन सब बातो मे एक ही अध्यात्म-भाव दृष्टिगोचर होता है, जिसके द्वारा काम का कल्मष दूर होगा और वह शिव का सान्निध्य प्राप्त कर अन्ततः अध्यात्म विधि मे विपरिणमित हो जायगा।

क्षुद्र पक्षी से लेकर देवयोनियों तक का मेघ के साथ सम्बन्ध सब अपर या निम्नकोटि का है। इन सब से परे त्रिभुवन-गुरु चण्डीश्वर तथा उनके परिवार के साथ मेघ का सम्बन्ध अक्षर कोटि का है। ऊँचे-से-ऊँचे देव तक त्रिगुणात्मक या तीन गुणो के अधीन है। ये तीन गुण ही तीन पुर है जो सोने, चाँदी और लोहे के बने हुए कहे गए है (ऐतरेय ब्राह्मण १।२३)। त्रिपुर के विजेता शकर है—

ससक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभि॰ ॥ मेघ १।५६।

किन्नरियाँ त्रिपुरासुर के विजेता, तीनों भुवनो के अधीश्वर, शंकर की विजय के गीत गाती है। यह त्रिगुणमयी माया बडी दुरत्यय अर्थात् चण्डी है। त्रिपुर या त्रिभुवन के गुरु शिव ही चण्डीश्वर है (मेघ १।३३)। उनका जो पवित्र धाम है वहाँ मेघ को अवश्य जाना चाहिए—पुण्य यास्यस्त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य।

चण्डीमाया जिनके वश मे है उनकी शरण मे जब ससार का कामरूप पुरुष पहुँचता है तो उसका भोग भी स्वर्गीय बन जाता है। ऐसा पुरुष अपनी भक्ति से भवानी को प्रसन्न करता है। उसकी दृष्टि मे स्त्री-सौन्दर्य परम सुन्दर का अति रमणीय प्रतीक मात्र है। अनुभव के अनन्तर उस रूप के दर्शन से आध्यात्मिक आनन्द और कला का विकास होता है, उसमे लालसा नही रहती। प्रकृति के सब पदार्थो का परिचय मनुष्य अपनी इन्द्रियो द्वारा दो ही तरह प्राप्त कर सकता है—ज्ञानी अथवा अज्ञानी बनकर। ज्ञानी की अवस्था मे वह पदार्थ के बाह्य नाम-रूप से मोहित न होकर उसका तत्त्वरूप जानने का प्रयत्न करता है। उसका भोग मुक्ति की भावना से भावित रहता है। मूर्ख या विषय-कामी वह है

जो पंच विषयो या भूतों की सत्ता को ही सच्ची समझकर उनमे अपनी लालसा तृप्त करने के लिए आत्मा को खो देता है। यक्ष किसी समय इसी मूढ दशा मे विषयो मे आसक्त था। अब वह काम के बाह्य भोग मे लिप्त न होकर मानसिक क्षेत्र मे उसके वास्तविक स्वरूप का अनुभव कर रहा है। काम-पुरुष के साथ उसका अभिनव सम्बन्ध संयम, भक्ति और वैराग्य से नियन्त्रित है। इसी कारण वह प्रत्येक क्षण देवाधिदेव शकर को प्रसन्न करना चाहता है। पार्वती के साथ विवाह करने मे पूर्व शकर को भी अपना काम विषयक भाव बदलना पड़ा था। इसी आन्तरिक परिवर्तन से प्रेरित होकर यक्ष मेघ को महाकाल के मन्दिर मे ठहरने का उपदेश देता है। और सब जगह तो उसने अपने दूत से जल्दी जाने को कहा है—आशु गन्तुं व्यवस्येत—

मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्या ,

परन्तु महाकाल के मन्दिर मे मेघ यदि समय मे पहले पहुँच जाय तो उसे वहाँ सूर्यास्त तक ठहर जाना चाहिए। दिन का शेष भाग सिवाय शिव की सान्ध्य पूजा मे कृतार्थ करने के और कहाँ बिताया जाय—

अप्यन्यस्मिन् जलधर महाकालमासाद्य काले,
स्थातव्य ते नयन विषय यावदत्येति भानुः।
कुर्वन्सन्ध्यावलि पटहता शूलिन श्लाघनीया-
मामन्द्राणा फलमविकल लप्स्यसे गर्जितानाम् ॥

—मेघ० १।३४।

इस प्रकार भगवत्-समर्पित जो काम या वृष शक्ति है उसी के स्वाभाविक अर्थात् सृष्टि के लिए अत्यन्त आवश्यक रूप को हिन्दू शास्त्रो ने भगवान् का स्वरूप बताया है —प्रजनश्चास्मि कंदर्प.—गीता १।२८।

काम की ऐसी आध्यात्मिक कल्पना वस्तुत बहुत उच्च और कल्याण करनेवाली है। उसको पाकर मनुष्य स्त्री को भगवान् की विभूति समझता है, अपनी अभिलाषाओ की दरिद्र भिखारिणी नही। वह उसकी आत्मा से मिल जाता है जोकि अनन्त सम्मिलन है। शरीर की एकता तो विच्छिन्न और नश्वर है।

ऊपर हमने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि मेघदूत मे जो

काम की प्रवल धारा वही है और जिसके प्रभाव से चेतनाचेतन जगत् मे कोई भी अछूता नही बचा है, वह स्थूल भोग को पुष्ट करने के लिए नही है; प्रत्युत उसके द्वारा कवि ने यह दिखाया है कि काम का आश्रय लेकर भी किस प्रकार विराट् प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करके अन्त मे परम शिवात्मक ज्योति के दर्शन सम्भव है। जो मेघ निर्विन्ध्यादि नायिकाओ के साथ अनेक विलास करता है वही अन्त मे मणि तट पर शिव और पार्वती के आरोहण मे सहायक होता है। योगियो के मणितट, बुद्धो के मणिपद्म और ज्ञान की पुरी काशी की मणिकर्णिका मे कोई भेद नही है। वहाँ पहुँचकर आनन्द-ही-आनन्द है।

४

मेघ का दूत-कर्म

महाकवियो के लिए सब सुलभ है। वे जैसी चाहते है वैसी सृष्टि की रचना कर लेते है। उनके सकल्पो का अनुविधायी फल नित्य उनके सामने हाथ जोड़े खडा रहता है। कालिदास ने अचेतन मेघ से चेतन और समर्थेन्द्रिय पुरुष का काम लिया है। उनकी शब्द-चातुरी और कला की अभिज्ञता इतनी बढी-चढी थी कि वे जड मेघ मे चेतन की भावना का निर्देश करके ही सतुष्ट नही हो गए, वरन् उन्होने मेघ से सदेश की स्वीकृति और सदेश का यक्षपत्नी के सामने साक्षात् जैसा कथन भी करवाया है।

विधिवशात् अपनी प्रिया से दूर फेका हुआ[1] कोई यक्ष उसके विरह मे अत्यन्त तन-छीन और मन-मलीन हो गया है। वह स्वय कामी है इसलिए उस शास्त्र के समस्त नियमो का पण्डित है। वह जानता है कि मेघ लगते ही सब परदेसी घर लौट जाते है। वह यह भी जानता है कि मेघ को देखकर कामिनियो के हृदय उल्लास से भर जाते है, इसलिए उसे भय है कि उसकी विरहिणी जाया का जी उसके न जाने से कदाचित् टूट जायगा। पथिको की वनिताएँ आशा के बल पर जीती है (पथिक वनिता. प्रत्ययादाश्वसन्त्य·)। यक्ष इसी आश्वासन को अपने सन्देश मे देता है। जब वह सारा सन्देश कह चुकता है और मेघ से यक्षिणी के आगे उसे कहला भी चुकता है, तब वह समझता है कि उसकी स्त्री को आश्वासन मिल गया होगा।

आश्वास्यैव प्रथमविरहादुग्रशोका सखी ते।

कभी जिसने विछोह नही जाना, उसकी विरह मे कैसी आर्त दशा होगी ?

१—विधिवशाद् दरबन्धुः (१—६)

उसी के प्राणो की रक्षा के लिए आश्वासन भेजा गया है।

इस प्रकार विप्रयुक्त दशा मे दयितालम्बन के लिए सन्देश भेजना निश्चित करके उसकी आँख सामने स्थिर मेघ पर पडती है। उसको ही उसने दूत कल्पित किया। मेघ मे अनेक गुण है, यक्ष उन सबका कीर्तन करता है। वह महान् वश मे पैदा हुआ है (जात वंशे भुवनविदिते)। उसकी अन्तरात्मा बडी आर्द्र है, इसलिए दुखियो की दशा पर उसे तरस आता है (प्राय: सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा)। अन्तर्ज्वाला से दग्ध प्राणियो को शान्ति पहुँचाना मेघ का स्वभाव ही है। इसी विश्वास पर यक्ष मेघ से प्रार्थना करने चला। हम भली प्रकार दिखा चुके है कि किस प्रकार चेतनाहीन मेघ मे उसने चैतन्य और धैर्य-गाम्भीर्य की भावना को अपने मन मे स्थान दिया। उस प्रार्थना मे उसने मेघ की बहुत अनुनय-विनय की, उसके समक्ष अनेक स्वागत के वचन कहे। उससे कहा—"हे मेघ ! तुम उत्तम हो, तुम्हारे पास सम्पत्ति और विभूति है। बड़े आदमियो की सब सामग्री परोपकार के लिए ही होती है (आपन्नार्तिप्रशमनफला: सपदो ह्युत्तमाना)। इसलिए तुम मेरे सन्देश को ले जाना स्वीकार करो (सन्देश मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य)।" यक्ष ने अनेक प्रकार से अपनी दीनता भी प्रकट की, और दूसरी ओर उससे भाई-चारे का सम्बन्ध भी जोडा, अपनी स्त्री को मेघ की सखी और भौजाई तक कहा। पर तो भी उसका चित्त डरता ही रहा और अन्त मे उसने कह दिया, यह मेरी प्रार्थना तुम्हारे योग्य नही है, पर चाहे दु:खी जानकर और चाहे भाई और मित्र मानकर मेरा काम कर ही देना।[1] कालिदास को मित्र का रिश्ता सबसे अधिक मान्य है। जहाँ स्त्री और भाई तक के सगे सम्बन्ध हार जाते है, वहाँ मित्र-भाव की ही शरण ली जाती है। रति विलाप करते समय कहती है—

दयितास्वनवस्थित नृणा न खलु प्रेम चलं सुहृज्जने।

(कुमार० ४।२८)

हे स्मर ! यदि तुम मेरे विलाप का अनुरोध न मानो, तो अपने

१—एतत्कृत्वा प्रियमनुचित प्रार्थनावर्तिनो मे
सौहार्दाद्वा विधुर इति वा मय्यनुक्रोशबुद्धया। २–५२।

उत्सुक मित्र वसन्त को ही दर्शन देने के लिए फिर आ जाओ, क्योंकि पुरुषो का प्रेम स्त्रियो मे चाहे अस्थिर भी हो, पर मित्रो मे वह सदा एकरस रहता है।

इसीलिए यक्ष भी बार-बार सुहृद्भाव की याद दिलाता है। जहाँ कहीं मेघ की चाल शिथिल होने की उसे आशका है, वहाँ फिर मित्रता के नाम पर उसे उत्तेजना देता है—

मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः। (१।३८)

अर्थात् जिन्होने मित्र के काम को अपने सिर ओढ लिया है उन्हे सुस्ताने तक का भी अवकाश कहाँ ? केवल सुग्रीव ने राम का काम अपने ऊपर लेकर भी ढील-ढाल की थी; दूसरी ओर हनुमान ने मैनाक के विश्राम के लिए प्रार्थना करने पर भी यही कहा—रामकार्य न मेश्रम.। रामचन्द्र जी ने भी अन्त मे हनुमान को ही सुर, नर, मुनियो से भी अधिक अपना उपकारी समझा। कालिदास ने फिर कहा है—

कान्तोदन्त सुहृदुपनत संगमात्किंचिदून.। (२।२७)

मित्र के द्वारा लाया गया जो कान्त का (या कान्ता का) सन्देश है वह प्रत्यक्ष सम्मिलन से कुछ ही कम होता है। सम्भव है कवि ने हनुमान के सन्देश कार्य की ओर भी इसमे सकेत किया हो जैसा कि बहुत से टीकाकारो का मत है (इत्याख्याते पवनतनय मैथलीवोन्मुखी सा। २।३७)। यहाँ कालिदास ने याचना का भी एक नियम बताया है—

याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा।

अर्थात् पहले तो किसी से कुछ न मांगना ही श्रेष्ठ है। क्या जाने कोई मना कर दे, इस आशंका से स्वय ही मौन रखना उचित है (अभ्यर्थनाभगभयेन साधुर्माध्यस्थमिष्टेऽप्यवलम्बतेऽर्थे, कुमार० १।५२), परन्तु यदि बिना याचना के काम ही न चले, तो फिर अपनी विवशता को गुणवान् आदमियो के सामने ही रखना चाहिए, अधम के सामने हाथ फैलाने से, चाहे वह कुछ दे ही दे, अपना मान घटता है। मेघ की अलौकिक गुणसम्पत्ति के कारण यक्ष ने अपना अर्थित्व उसके सामने रख दिया। उसे उसने अपने घर का रास्ता बताया। यह मार्ग बड़ी रमणीय रीति से पूर्वमेघ मे कहा गया है। जब मेघ अलका मे पहुँच जाता है तब वहाँ उसे बहुत से घर दिखाई पड़ते हैं, उनमें से किस घर को यक्ष का घर समझा जाय, इस लिए विरही यक्ष ने अपने घर की भी

पहचान बताई है ।

अलका मे कुवेर का घर तो किसी से छिपा नही रह सकता, राजमहल की पहचान दूर से हो जाती है। कुवेर के भवन से उत्तर की ओर यक्ष का घर है। उसके बाहर बड़ा तोरण इन्द्रधनुष के समान दिखाई पड़ता है जो दूर से ही लक्षित होता है—

तत्रागारं धनपतिगृहानुत्तरेणास्मदीय
दूराल्लक्ष्य सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन । (२।१२)

उस विशाल तोरण के पार्श्व मे एक बाल मन्दार का वृक्ष है। उसके सहन मे एक बावडी है जिसमे मरकत मणियो की सीढ़ियाँ वनी हुई है। उसमे सोने के कमल खिलते है और श्वेत हस रहते है। उसके किनारे पर नीलम का क्रीड़ा-पर्वत है जिसके ऊपर कनक कदलियो की बाड़ लगी हुई है। वहाँ कुरबक विटपो से घिरा हुआ माधवी लता का मडप है जिसके समीप मे ही अशोक और मौलसिरी के दो पेड़ है। इन दोनो के बीच मे एक ऊँची सोने की यप्टि का अडडा है जिसके ऊपरी भाग मे स्फटिकमणि की चौकी वनी है और मूलभाग हरी मरकतमणियों से जडा हुआ है। उस वासयप्टि पर सायकाल को यक्ष के घर का मोर बैठता है। उस भवन के द्वार पर शख और पद्म नामक निधियो के चित्र बने है। यक्ष की अनुपस्थिति मे उस घर की श्री कुछ मलीन हो गई होगी। उस भवन मे रात्रि के समय मेघ को जाना उचित है—

मत्सन्देशैः सुखयितुमल पश्य साध्वी निशीथे
तामुन्निद्रामवनिशयना सौधवातायनस्थ ॥ (२।२५)।

पहले इन्द्रनील मणियो के बने हुए क्रीड़ाशैल पर बैठकर मेघ को अपने आने का सन्देश कहना चाहिए। यहाँ कालिदास ने जो श्लोक लिखा है उसमे उन्होने शब्दो द्वारा अपने अभिव्यजित अर्थ का रूप खड़ा कर देने की पराकाष्ठा प्रदर्शित की है—

गत्वा सद्यः कलभतनुता शीघ्र संपात हेतोः,
क्रीडाशैले प्रथम कथिते रम्यसानौ निषण्णः।
अर्हस्यन्तर्भवनपतिता कर्तुमल्पाल्पभास,
खद्योतालीविलसितनिभा विद्युदुन्मेषदृष्टिम्। (२।१०)।

यहाँ तक कवि मेघ को यक्ष के घर पर ले आया। मेघ सारे संसार मे ही जाते हैं, यक्ष के घर पर भी मेघ अवश्य ही दिखलाई देगा। इसमे

इतना वैचित्र्य नही है। उससे वह बराबर चेतन का व्यवहार कराता रहा। पर अब मेघ के ही व्यक्तित्व के आश्रय से कथा-सन्दर्भ को आगे चलाने का प्रश्न उपस्थित हुआ। सभी जानते है जड़ मेघ कैसे क्या जाकर कहेगा, उसके जडवत् जाकर खड़े होने मे भी हँसाई है। इसी विप्रतिपत्ति से अपना वचाव करने के लिए कालिदास ने अर्हस्यन्तर्भवन-पतितां······आदि पक्तियाँ लिखी है। बाहर शैल पर बैठा हुआ मेघ अपनी चेष्टा से सूचित करता है कि जैसे वर्षा मे अन्य मेघ आया करते है वैसे उसका आगमन सामान्य नही है। इस विशेषता को प्रकट करने के लिए उसे बारंबार चिलक-चिलक कर अपनी विद्युत्प्रिया के प्रकाश को घर के भीतर भेजना चाहिए। जैसे दूत बाहर आकर भीतर अपने आने की खबर देता है, वैसे ही मेघ को नेत्रो का प्रतिघात न करनेवाली खद्योतपुंज की प्रभा के समान अल्प प्रकाश वाली अपनी चमक से भवन के भीतर वैठी हुई यक्षिणी को अपना आगमन सूचित करना चाहिए। वह जानेगी कि मेघ आया है। पर ऐसा तो वह सदा ही मेघकाल मे जाना करती है कि मेघ वर्षा मे आते रहते है। यह ज्ञान कुछ अनजान मे होता है। जिस प्रकार नित्य सूर्य निकलता है इसका ज्ञान हमे होता है पर वह ज्ञान नये सकल्पो की उद्भावना नही करता। पर किसी विशेप दिन हमे अपने चित्त की अनुरजित दशावश अथवा उपा के ही प्रकृष्ट सौन्दर्यवश एकदम सूर्योदय की छटा से अभिभूत हो जाना पड़ता है। उस दिन हमारा ज्ञान सविशेप होता है कि आज सूर्योदय हुआ, इसीलिए उसका वर्णन दूसरो के सामने करने की भी हमारी इच्छा होती है। सामान्य वस्तु का सविशेप ज्ञान ही तद्विपयक नये विचारों को जन्म देता है। यक्ष मेघ से कहता है कि आँगन मे जो पेशल इन्द्रनील मणियों का क्रीड़ाशैल है उसके रम्य सानु पर वैठकर उसे अविरत परिस्फुरण करना चाहिए। मेघ आया और दो-एक वार चमका। सामान्यतया सब ही मेघ ऐसा करते है, अतएव उसके देखने के लिए कोई कुतूहलवश वाहर दौड़कर नही आता। यक्ष-पत्नी के घर के ऊपर से भी विद्युद्विलसन करते हुए कितने मेघ निकल जाते है। पर जब वह देखेगी कि विद्यु-त्स्फुरण की अल्पाल्प दीप्ति वन्द ही नही होती, तब निश्चय उसके भीतर मेघ के आगम का सविशेप कुतूहल प्रवर्तित होगा। वह सोचेगी कि आज यह दामिनी इतनी उन्मादिनी क्यों हो गई है। इस प्रकार के विचार उठे

कि मानो दूत के आगमन का ज्ञान यक्षिणी को हो गया। ऐसे ही समय मेघ को उचित है कि तुरन्त क्रीडाशैल से सरककर उस गृह के गवाक्ष मे जाकर स्थित हो जाय। वहाँ से भीतर दृष्टि डालने पर उसे वह भ्रातृ-जाया दिखाई देगी जिसके दर्शन के लिए वह इतनी दूर आया है। उस अवनि-शयना, विरह-मथिता, उन्निद्रा, मलिनवसना, तन्वी और अश्रु-पूरिताक्षी यक्षिणी को देखकर पहले तो मेघ को अवश्य कुछ अश्रुमोचन करना पडेगा—

> विद्युद्गर्भ. स्तिमितनयनां त्वत्सनाथे गवाक्षे।
> वक्तुं धीर. स्तनितवचनैर्मानिनी प्रक्रमेथा: ॥ २।३५ ॥

अर्थात्, गवाक्ष मे बैठे हुए अपनी विद्युत् को अन्तर्लीन करके धीरे-धीरे धीर भाव से गरजकर उस मानिनी से कुछ कहने का डौल लगाना। विद्युत्प्रकाश रूप इगित का काम तो क्रीडाशैल तक ही था, अब तो मेघ को सन्देश की सूझ करनी चाहिए। मन्द्रस्तनित ध्वनि ही उसकी भाषा है, उसी से अर्थ-प्रकाश करने मे उसकी चतुराई है। सहसा गम्भीर घोर गर्जन से उसका अभीष्ट सिद्ध नही हो सकता, वह तो उलटे यक्ष-पत्नी के चित्त में मेघ के प्रति विरति उत्पन्न कर देगा। उसे धीरज के साथ दीर्घ मन्दध्वनि करनी चाहिए। उस मन्थर निर्घोष के बार-बार कान में पड़ने से यक्षिणी उसकी ध्वनि को समझने का प्रयत्न करेगी। और उसके हृदय मे वर्षा के आगमन की प्रत्यक्ष प्रतीति होने से प्रियतम के अभाव का तीव्र अनुभव करानेवाले विह्वल विचार स्वय प्रवृत्त हो जायँगे। जैसे विप्रकृष्ट भर्ता का सन्देश लेकर आये हुए कागादिक मे स्त्रियाँ उपचार करती है और वह अपनी काँव-काँव से उनका ध्यान अभीष्ट अर्थ की ओर आकर्षित कर लेता है, वैसे ही मेघ भी मानो अपना सन्देश दे सकेगा। भावो के स्रोत को जगा देना भर दूत का काम है। वह कैसा भी कुशल हो, सन्देश की सारी भाषा को कहकर प्रकट नही कर सकता। फिर वह प्रेम ही क्या जो सारा शब्दो के पाश मे बँध जाय। शब्दो की योजना से जितना सम्भव है उतना दूतकृत व्यवहार कालिदास ने मेघ से कराया है।

जब यक्ष अपना कुल सन्देश कह चुका तब उसके लिए मेघ की स्वीकृति लेने की भी ऐसी ही युक्ति कवि ने सुझाई है—

कच्चित्सौम्य व्यवसितमिदं बन्धुकृत्यं त्वया मे
प्रत्यादेशान्न खलु भवतो धीरता कल्पयामि ।
निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः
प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव ॥ २।५१ ॥

अर्थात्, हे सौम्य, क्या तुमने अपने बन्धु का सन्देश-वहन रूप यह कार्य करना ठान लिया ? प्रत्यक्ष उत्तर को ही मैं धीरता का प्रमाण नहीं मानता, क्योंकि तुम गर्जन के बिना ही याचक चातकों को नीर देते हो। ठीक भी है, ईप्सित काम कर देना ही सज्जनों का प्रार्थी के प्रति समुचित उत्तर है।

इस अर्थ की व्यंजना से यक्ष ने हम सबके चित्त मे यह संस्कार डाला है कि मेघ ने उसका सन्देश-कार्य करना स्वीकार कर लिया ।

५

विरह-प्रवास और प्रेम

कोई शब्द ब्रह्म को प्रत्यक्ष करते है, उनके लिए स्फोट व्यजना के नियमो द्वारा श्रुति का प्रकाश होता है। कोई कर्म ब्रह्म की मीमासा मे निरत है।.कोई विशुद्ध चेतन आनन्द ब्रह्म का अनुभव करते है। कोई ध्यान-मग्न होकर किसी पुरुष-विशेष के दर्शन करते है। ये सब जीवन के परम लक्ष्य है। उपनिषदो मे इन्ही को महती सम्प्राप्ति कहा गया है। सम्भव है इनके साक्षात्कार से सब ग्रन्थियाँ खुल जाती हो। पर ये अनु-भव लोकालोक पर्वत के समान मिश्रित भाववाले है। जहाँ एक ओर इनसे कुछ प्राप्ति होती है वही दूसरी ओर कुछ हाथ से भी जाता रहता है। ज्ञान अथवा योग के साधन सब इसी प्रकार के है। कामार्त यक्ष के लिए वे सर्वथा अनुपयुक्त ही है। यक्ष इन सबसे विलक्षण जिस पुरुप की अनु-भूति करना चाहता है उसका निदर्शन कुछ पिछले अध्याय मे हो चुका है। जो इन्द्राणी रूप शक्ति का स्वामी (शचीपति) है, जिसके बल की इयत्ता नही (शतक्रतु), जो द्युलोक, पृथिवी और नदियो का वृष्य स्रोत है—

वृषासि दिवो वृषभ. पृथिव्या वृषा सिन्धूना

(ऋक् ४।७।२०)

जो सर्वत्र जननयोग्य प्राण का वर्पण करने के लिए शतधार और सहस्र-धार होकर संचार करता है, जो ब्रह्मचारी होते हुए भी सर्वत्र रेत का सिचन करता है, जिसके समागम से समस्त प्रकृति मे पुलकावली हो उठती है, जो मकरकेतन होते हुए अन्त में वृपकेतन मे विलीन हो जाता है, उसी काम-पुरुप का अनुभव हमारा यक्ष करना चाहता है। जिस प्रकार ज्ञान ब्रह्म मे अभ्यास से लौकिक व्यवहार होता है, उसी प्रकार

यद्यपि यह कामपुरुष शुद्धातिशुद्ध है, तथापि लोकस्थिति के लिए इसमें भी यौवनोद्रेक से विषयकृत व्यवहारों की प्रवृत्ति होती है। दोनों के अनुभव के लिए तीव्रतम प्रेम की आकांक्षा है। इहलीला समाप्त करने के बाद ज्ञानी परम आनन्द के सागर मे विलीन हो जाता है। यक्ष का भी शापान्त मे परम सुन्दर से सयोग होगा क्योंकि यक्ष-पत्नी अनन्त सौन्दर्य की राशि है। यथा—

या तत्र स्याद्युवति विषये सृष्टिराद्येव धातु ॥२,१६॥

यदि किसी को इस बात की प्रतीति हो कि विधाता की सृष्टि मे सौन्दर्य का दूसरा स्थान अमुक वस्तु को मिला है तो वही प्रथम स्थान की कल्पना भी कर सकेगा। जब द्वितीय कोटि का निश्चय ही नही, तब प्रथम कोटि स्वतः अनन्त के अक मे विलीन हो जाती है। इस प्रकार लक्ष्य की समता होने पर भी प्रश्न यह है कि यक्ष को लोक मे क्या स्थिति रखनी चाहिए, उसकी साधना का क्या स्वरूप हो, वह किस प्रकार कल्पना के मेघदूत अपनी सौन्दर्य-राशि के समीप भेजता रहे, गीता के शब्दो मे उसकी 'भाषा' क्या हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए हमने कालिदास के ही शब्दों मे कुछ सूत्र बना लिए है—

१ शापेन
२ अबलाविप्रयुक्तस्य कामिन.
३. मेघ परिणतगज प्रेक्षणीय
४ कौतुकाधान हेतो (मेघस्य)
५ अन्यथावृत्ति चेत (यक्षस्य)
६. दयिताजीवितालम्बनार्थी
७ प्रवृत्तिहारकाय
८. धूमज्योति सलिल मरुता सन्निपातः
९ कामार्तस्य चेतनाचेतनेषु प्रकृति-कृपणत्वम्
१० मघोन कामरूप प्रकृति-पुरुषज्ञानम्
११ सतप्तानाशरणम्

इस सूत्र एकादशी के विविध अंगो पर हमने सक्षिप्ताक्षरो मे विचार किया है। इनका समन्वय इस प्रकार है। सबसे प्रथम आवश्यकता शाप की है। शाप न हो तो इस काम-सृष्टि के उत्पन्न होने का अवसर ही प्राप्त न हो। शुद्ध ज्ञान के समक्ष ससार की स्थिति कुछ नही। उस कल्प-

नातीत अवस्था मे चाहे जो आनन्द होता हो परन्तु उसकी अभिव्यक्ति बिना अविद्या या शाप के नही हो सकती । यदि शाप हुआ भी, पर आत्मा के पूर्व-सस्कार कुछ नही है, तो जन्म पाने से ही क्या ? जो योगभ्रष्ट हैं उन्ही को अनुभव की सीढियो पर पुनः आरोहण करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है । इसीलिए यक्ष कामी हे । जिस काम-सलिल से वह पहले ओत-प्रोत था, वही अपने सस्कारो समेत शाप के अनन्तर भी उसके साथ आया है । जिसमे काम हो वही कामी है । वह काम जिस वस्तु की कामना को लिए है उसे उससे विप्रयुक्त होना चाहिए । इसी से यक्ष कान्ता-विश्लेपित है । इस प्रकार जिसका संसार में जन्म हुआ है, वह सनकादिक की तरह मातृकुक्षि से ही ज्ञानसम्पन्न उत्पन्न हो तो उसमे कुछ कुतूहल नही हो सकता । उसके जन्म होने न होने मे कुछ भेद नही है । यक्ष के आठ महीने सामान्यतया वीते, उसमे उसका शरीर कृश हो गया, स्वर्ण के भुजवन्द सरककर नीचे आ गए और यक्ष का प्रकोष्ठ रिक्त हो गया, क्योकि उसमे काम-सस्कारो का वीज है (१।२)। उसने पहले मेघ को उसी अवस्था मे देखा जैसे सब देखते है । यह केवल इन्द्रियजन्य ज्ञान था । अक्षसन्निकर्ष सव प्राणियो को समान ही होता है । सब ही को मेघ तिर्यग्दन्तप्रहारी हाथी के सदृश दिखाई देता है । इस ज्ञान का हृदय तक प्रवेश नही होता । इससे मनोभावो पर कुछ चोट नही लगती, हृदय-वीणा के तार सुपुप्ति अवस्था मे ही सोए रहते है । उनको चेतन करने का रहस्य कवि ने वताया है—कौतुकाध्यान हेतो, अर्थात् जो मेघ कामौत्सुक्य[1] का जन्मदाता है वह जिनके अन्दर काम बीज है उनकी उत्सुकता को जगानेवाला है । यक्ष ने मेघ के कौतुकोत्पादक स्वरूप को लेकर ध्यान किया । उसके चित्त मे उथल-पुथल आरम्भ हुई । जो काम पहले सामान्य दशा मे था उसकी अब उत्कृष्ट व्यजना होने लगी । इस अन्यथावृत्ति चित्त से उसे प्रिया के जीवन की शका होने लगी । उसने दयिताजीवन का उपाय सोचा, तो यही निश्चय किया कि अपने और दयिता के बीच मे कोई कुशल व्यक्ति समाचारो का पहुँचानेवाला मिले । यक्ष स्वय तो शाप के वश नियत अवधि से पहले रामगिरि छोड़ नही सकता था, इसलिए उसने अपने और अपनी पत्नी के बीच मे सन्देश

१—कौतुकं कामविषयौत्सुक्यमिति दक्षिणावर्तनाथ ।

का तार लगाना ही उपयुक्त समझा। वियोगिनी स्त्रियो के लिए संदेश एक वहुमूल्य वस्तु है। कवि ने स्वय ही कहा है—

कान्तोदन्त. सुहृदुपनत. सगमात्किंचिदून. ॥२,३७॥

अर्थात्, प्रियतम का वृत्तान्त जो उसके मित्र द्वारा भेजा जाता है कान्त के समागम से कुछ ही कम है। कामार्त को शाप की अवधि मे अपने प्रिय के जिस स्वरूप का दर्शन होता है, उसका आनन्द प्रत्यक्ष मिलन से उत्पन्न होने वाले आनन्द के सदृश ही है। इस तरह यक्ष को प्रवृत्ति-हारक की आवश्यकता हुई। उसे सामने जडमेघ दिखाई दिया। जव तक सर्वत्र चैतन्य ज्योति का आभास देखने की योग्यता हममे उत्पन्न नही होती, तव तक किसी प्रकार के भी इन्द्रियातीत अनुभव को हम पूरी तरह नही पा सकते। इसी लिए यक्ष चित् और अचित् के भेद मे प्रकृति-कृपण हुआ, उसे सर्वत्र चिति का ही प्रतिविम्व दिखाई देने लगा। इस भेद के विस्मरण से उसकी आत्मा का विकास हुआ। जिन मनोवृत्तियो का उसमे स्फुरण हुआ था उन्ही का भोगी वह समस्त ससार को समझने लगा। इसी के फलस्वरूप उसने प्रकृति के कामरूप पुरुप को जान लिया। और उसी ज्ञान से उसके सताप को शाति मिली। यदि उसे यह अनुभव प्राप्त न होता तो कामार्त दशा मे न जाने उसकी क्या दशा होती। वह यक्ष इस समय समस्त जगत् को अवला-युक्त देखता है। क्या निर्विन्ध्या, क्या गम्भीरा, क्या वेत्रवती, क्या अलका, और क्या विद्युत्, सव ही उसे स्त्री रूप मे दिखाई देती है। वे सव अपने सौभाग्य-वैभव को प्रियतम के अर्पण कर रही है। पूर्वमेघ की समाप्ति पर उसे कैलास के उत्सग मे बैठी हुई अलका दीख पडती है। काम-दशा मे उस अलका का गगा रूपी श्वेत दुकूल सरक रहा है। उसके सप्त भूमिक प्रासाद शिरस्थानीय है जिनके ऊपर स्थित मेघ रूपी केशभारो से मुक्ता-जाल विखर रहे है।[1] रामगिरि से कैलास तक चलकर गये हुए व्यक्ति के लिए कवि ने किस स्वागत मंगल की कल्पना की है? अलका प्रियतम

१—तस्योत्संगे प्रणयिन इव स्रस्तगंगा दुकूलां
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन्।
या वः काले वहति सलिलोद्गार मुच्चैर्विमाना,
मुक्ताजाल ग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम् ॥१।६३।

के उत्सग मे बैठी हुई मानो उसका आवाहन कर रही है। यह अलका कितनी सुन्दरी है, इसका वर्णन करने मे कालिदास ने अपूर्व सामर्थ्य प्रदर्शित की है [उत्तरमेघ श्लोक १-११]। उत्तरमेघ के अंत मे भी यक्ष ने मेघ को आशीर्वाद दिया है कि उसका अपनी कान्ता सौदामिनी से कभी वियोग न हो।[1] सदेश लेकर पहुँचने पर तथा सदेश सुना देने के वाद उसे एक-से-एक वढकर मगलात्मक स्वरूप के दर्शन होते है। इस प्रकार यक्ष को चर और अचर सवमे यही प्रतीति होती है कि मेघ ने पहुँचकर सर्वत्र प्राण का रति से सयोग करा दिया है। ऐसे समय मे अपनी जाया की उपेक्षा करने वाला कौन है ? इस प्रश्न की मीमांसा के लिए हमे विप्रलम्भ शृंगार के द्वार की शरण लेनी होगी। जहाँ आलम्बन विभाव रूप नायक और नायिका पूर्वानुराग से ही वियोग की व्यजना का अनुभव कर रही है, उस दशा मे प्रथम तो कामस्वरूप की समग्र प्रतीति की सभावना ही नही है। दूसरी वात यह है कि उनके बीच में लौकिक या पारलौकिक कोई भी ऐसा उत्कट व्यवधान नही जो जलदकाल मे जगाई हुई सगमाभिलापा से परास्त न हो सके। इस विप्रलम्भ के सचारी वँहुत जल्दी पुष्ट होकर स्थायी भाव रूप रति का परिचय करा देते है। दूसरा विप्रलम्भ मान रूप है जिसमे प्रणय-कलह से या ईर्ष्यावश नायक-नायिका वियुक्त होते है। यह विप्रलम्भ का धागा इतना कच्चा होता है कि वह कामपुरुप के एक झटके को भी नही सँभाल सकता। जहा मेघ के प्रथम दर्शन हुए वही कामौत्सुक्य से मान विप्रलम्भ का अत हो जाता है। तीसरा करुण विप्रलम्भ वह वियोग है जहाँ नायक-नायिका मे से एक का अत हो जाता है। ऐसी दशा मे काम की अभिलापा कितनी भी वलवती क्यो न हो उसे अतृप्त ही रहना होगा। मेघागम से सयोग की इच्छा उत्पन्न भी हो तो भी संयोग के आलम्वन का अभाव रहता है। शृगार की यह अवस्था करुण मे ही परिणत हो जाती, यदि नायक-नायिका के किसी प्रकार पुन शरीर धारण कर इसी जन्म मे मिलने की सभावना न होती। करुण विप्रलम्भ की संवेदना को करुण के समान ही समझना चाहिए। हम यह नही कहते कि करुण रस की अवस्था मे मनोभावो का जो विकास और जो तीव्र अनुभव होता है वह विप्रलम्भ शृंगार के उस

१—माभूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः ॥१।५२।

अनुभव से जो यक्ष और यक्षिणी का है, कम है। भवभूति को करुण रस के समक्ष विप्रलम्भ के सब अनुभव नीचे ही जान पड़ते हैं। उनके मत से करुण रस ही सबमें मुख्य है—

एको रस. करुण एव निमित्तभेदा-
त्पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
(उत्तररामचरित्र)

अर्थात्, प्रधान रस करुण ही है जो निमित्त भेद से नाना स्वरूपो को धारण कर लेता है। वही रस का सार है। संभोग मे भी जब अतिशय रति द्वारा इन्द्रियाँ थक जाती है, तब निर्वेद द्वारा जिस शान्त रस का प्रादुर्भाव होता है, वह आत्मकरुणा और आत्मग्लानि उत्पन्न करने के कारण करुण का ही एक रूप है। विप्रलम्भ मे तो सर्वत्र ही करुण रस का थोडा या बहुत अनुभव रहता ही है। इस प्रकार भवभूति को जो करुण रस की विस्तृत व्याख्या इष्ट है उसके आचार्य वे स्वय ही है, क्योकि अन्य आलकारिक उनकी करुण रस की इस परिभाषा को अतिव्याप्ति वाली समझते हैं। उनके मत मे सब रस अपने अपने विषय मे प्रधान है। काव्यभेद और आलम्बन विभाव की मनोवस्था के भेद से सब रसो के लिए स्थान है। पर यह बात ध्यान मे रखने योग्य है कि करुण के आश्रय से ही भवभूति जितनी गहराई तक मनोभावो के रहस्य को पा सके, उसका कारण ऐकान्तिक करुण रस ही नही है। कुछ तो उनके नाट्य-कौशल से इसमे सफलता मिली है। कभी तिरस्करिणी-प्रच्छन्न सीता का राम के शरीर से सपर्क होकर उन्हे चन्दनश्च्योतन का आनन्द मिलता है और फिर उसके विरह से स्मृति और अधिक दु ख-दायी होती है, कभी सीता राम को इस द्रवित अवस्था मे देखकर करुण संचार की वृद्धि करती है। और कुछ नाट्यकार के इस विश्वास से भी कि अन्त मे सीता और राम का सयोग करा ही देना है करुण रस के उद्भव मे बडी सहायता मिली है। कुछ भी हो, भवभूति को मनोभावो की तीव्रतम व्यजना मे अभूतपूर्व सफलता मिली है। पर शृगार का करुण विप्रलम्भ जैसा पु डरीक और महाश्वेता का है इतनी गहराई तक मनो-भावो को विवृत नही कर सकता जितना यक्ष और यक्षिणी का विप्र-लम्भ करता है। वह कामपुरुष को पूरी तरह व्यक्त करने मे असमर्थ है, क्योकि वह एक आलम्बन से हीन होता है। हमारे शृगार की शर्त

यही है कि एक ओर यक्ष-पत्नी भी अविधवा [भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे विद्धि माम्बुवाहं २।६६] रहे तथा दूसरी ओर यक्ष भी अव्यापन्न जाया वाला [अव्यापन्नामविहतगतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम् १।१०] हो। विरह में दोनो एक दूसरे के सौभाग्य की व्यजना कर रहे है। विप्रलम्भ के चौथे भेद केप्र वास के अन्तर्गत जहाँ नायक-नायिका कार्यवश विप्रोषित होते है वहाँ जब मेघ आता है तब कार्य की आवश्यकता तुरन्त प्रेम के प्रवाह मे वह जाती है। ऐसे पथिक अपनी प्रियाओ के वेणीभार को उन्मुक्त करने की उत्कंठा से तुरन्त घर की ओर चल पडते हैं। उनकी वनिताए भी उनके आने की बाट जोहती रहती है।[1] इसी सब मीमासा का सार कालिदास ने दो पंक्तियो मे रखा है—

क. सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जाया।
न स्यादन्योप्यहमिव जनो य· पराधीन वृत्ति· ॥१।८॥

अर्थात्, तुम्हारे सन्नद्ध होने पर, कामकौतुकोत्पादन रूप क्रिया में तत्पर होने पर कौन ऐसा है जो अपनी पत्नी की उपेक्षा कर सके? इसका 'क' पद विप्रलम्भ शृंगार के सब भेदो की ओर सकेत करता है। अर्थात्, पूर्वानुराग, मान, ईर्ष्या, करुण, कार्य-प्रवास, सभ्रम प्रवास ये सब मेघ की सन्नद्धता से हार जाते है। वे सब यथासम्भव सभोग मे परिवर्तित हो जाते है। जिसके लिए वर्षाकाल मे भी समागम असम्भव है, वह शाप प्रवास ही है। यह प्रवास पराधीन वृत्ति है। इसीलिए कालिदास ने अपने प्रश्न का उत्तर स्वय ही दूसरी पक्ति मे यो दिया है—

१—इन्हीं कार्यवशात् विप्रयुक्त जनो के लिए मेघ का कार्य यह बताया गया है—

यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानां
मन्द स्निग्धध्वनिभिरबलावेणि मोक्षोत्मुकानि ॥२।३६।

अर्थात्, वह विप्रोषित पथिको को प्रिया-समागम की आकांक्षा से शीघ्र घर की ओर प्रेरित करता है। एक बात यह भी है कि यक्ष और यक्षिणी के सदृश प्रेम मे कार्यवश प्रवास की संभावना ही नहीं [illegible] प्रेम के साम्राज्य पर और सब कुछ [illegible]
[illegible] े श्लोक में प्रवास के कारण की [illegible]
शापेन।

न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो य पराधीन वृत्ति

अर्थात्, वही जलदकाल मे भी जाया की उपेक्षा कर सकेगा, जिसकी विरहवशता आत्मवश नही, किन्तु पराधीन है। यह पराधीनता अपने दोष से ही उत्पन्न होती है। आत्मा सदा स्वाधीन है। अपने अधिकार मे प्रमाद करने से ही सब पर पराधीनता का बन्धन लगता है (स्वाधिकारात्प्रमत्त १,१)। प्राय लोग दोष करने पर भी अपने ऊपर प्रसन्न ही रहते है, प्रमाद के फल का भोग करना नही चाहते, और अपनी महिमा को अक्षुण्ण रखना चाहते है। यही दशा यक्ष की भी है। परन्तु इस प्रकार कोई भी अपने स्वामी के क्रोध का निवारण नही कर सकता। इसलिए कुवेर को भी क्रोध हुआ और उसी क्रोध मे दिये हुए शाप से यक्ष को वियुक्त होना पडा—

सदेश मे हर धनपति क्रोध विश्लेषितस्य ।१।७।।

अर्थात्, यक्ष मेघ से प्रार्थना करता है कि जिसको धनपति के क्रोध का लक्ष्य बनना पडा है उस मुझ पर करुणा करके (विधुर इति वा मय्यनुक्रोश बुद्ध्या २।५३) मेरे सदेश को प्रिया तक पहुँचा दो। वह प्रिय यक्ष को कितनी प्रिय है, इसको वह स्वय बताता है—

ता जानीथा परिमितकथा जीवित मे द्वितीय ।२।२०।।

अर्थात्, उसको मेरा दूसरा प्राण ही जानना। लोक मे प्रतीयमान शरीर मात्र का द्वैत ही हम दोनो को द्वित्व उपाधि से विशिष्ट करता है। वस्तुत हम दोनो के अन्दर एक ही प्राण है। यदि यक्षिणी के जीवन की हानि होगी तो उसके प्राणो के साथ ही मेरे शरीर का भी पात हो जायगा। इसका अध्यात्म अर्थ कितना सत्य है ? यदि आत्मा शरीर रूप से जगत् में दृष्टिगोचर न होती तो ब्रह्म में द्वैत-अद्वैत के झगड़े का जन्म ही क्योकर होता ? एक ही प्राण उपाधि-भेद से अनेक शरीरो में प्रतिबिम्बित होता है। इस प्रकार सश्लिष्ट यक्ष-पत्नी से स्वप्न मे भी यक्ष का विरह असम्भव था। परन्तु पराधीन वृत्ति मे कौन हस्तक्षेप कर सकता है ? चक्रवाक और चक्रवाकी किसी भी अन्य उपाय से विप्रकृष्ट नही होते, पर रात्रि के आते ही उन पर भी शाप का अवतार होता है। तभी चक्रवाकी अपने सहचर से दूर होती है। यक्ष-पत्नी को भी इसी प्रकार यक्ष से वियोग सहना पडा है—

दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम् ॥२। २० ॥

अर्थात् स्वप्न मे भी पृथक् न होने वाले सहचर से दूर हो जाने से वह चकई के समान अकेली होगी। चकई के उपमान से शाप की व्यजना करने में कालिदास ने अत्यन्त सूक्ष्म ध्वनि-कौशल का परिचय दिया है। चकई नित्य इस शाप को सहने से अभ्यस्त हो गई होगी, परन्तु यक्ष-पत्नी पर पहले-ही-पहल यह विरह-वज्र [प्रथम विरहादुग्रशोका सखी ते २।५०] टूटा है। इसलिए वह विरह-विधुरा होते ही अत्यन्त दीन दशा को प्राप्त हो गई। इस सावधिक शाप को वह एक-एक दिन करके बिता रही है [दिवस गणना तत्परा १। १०]। पर ये दिन उत्कठा के कारण वामन के चरण-विन्यास की तरह सुदीर्घ हो रहे है—

गाढोत्कठा गुरुपु दिवसेष्वेपु गच्छत्सु वाला।
जाता मन्ये शिशिरमथिता पद्मिनी वान्य रूपाम् ॥ २।२०।

इस औत्सुक्य का प्रधान लक्षण है समययापन की अक्षमता [कालाक्षमत्वमौत्सुक्यमिष्टवस्तु वियोगत । रसार्णवसुधाकर, द्वितीय विलास, श्लोक ७९]। यक्ष को रात्रि दीर्घयामवाली प्रतीत होती है [दीर्घयामा त्रियामा, २।४५]। यक्षिणी की भी विरह महती रात्रि [तामेवोष्णैर्विरह महती मश्रुभिर्यापयन्ती २, २६]काटे नही कटती। यक्ष के लिए वियोग की व्यथाएँ अत्यन्त सतापकारिणी हे [गाढोष्माभि कृतमशरण त्वद्वियोगव्यथाभि:। २।४५], तो यक्षिणी को भी विरह-विलाप मे नित्य गरम-गरम आँसू पीने पड़ते है। दोनो के समक्ष एक ही समस्या है—

सक्षिप्येत क्षण इव कथ दीर्घयामा त्रियामा।२।४५॥

अर्थात्, जिस रात्रि का पल-पल कल्प के समान वीतता है वह किस प्रकार सक्षिप्त होकर क्षण के समान हो जाय। दूसरे शब्दो मे जिस पल मे कल्पत्व का अध्यारोप विरह प्रवास से उत्पन्न हो गया है, जिसकी कुक्षि मे लोमश ऋषि परिमित अनत काल निमीलित-सा प्रतीत होता है, वह पल फिर किस प्रकार पल के वरावर ही भासित हो ? इस अध्यास के निराकरण का इस विश्व मे एक ही उपाय है जिसे स्वय कालिदास ने ही कहा है, यथा—

नीता रात्रि क्षण इव मया सार्धमिच्छारतैर्या। २।२६।

अर्थात्, यक्ष और यक्ष-पत्नी के सयोग से ही विरह महती विभावरी

क्षण के समान सक्षिप्त हो सकती है। इस प्रकार की दीर्घ रात्रि को यदि क्षण के बराबर बनाना चाहे तो उस क्षण को सयोगजन्य सार्व इच्छारतो से गुणा कर देना चाहिए। इस सयोग का अभाव वियोग ही रात्रि के गुरुत्व का हेतु है। पर इस सयोग के मार्ग मे शाप रूप बड़ा व्यवधान है। वह चार महीने से पहले समाप्त नही हो सकता—

शापान्तो मे भुजग शयनादुत्थिते शार्ग पाणौ,
शेपान्मासान्गमय चतुरो···············।२।४०॥

अर्थात्, जब विष्णु भगवान् शेप शय्या से सोकर उठेगे तब मेरे शाप की अवधि पूरी होगी। इन चार महीनो को यक्ष-पत्नी किस प्रकार व्यतीत करे ? जब यक्ष को विदित है कि विरह का एक पल भी पतिव्रता (एक पत्नी) वालाओ के लिए कोटिकल्प के समान होता है, तो उसे उचित है कि इन चार महीनो को बिताने का कुछ उपचार बतावे। वह अपने सदेश मे कहता है—

शेपान्मासान्गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा।२।४७॥

अर्थात्, आँख मीचकर इस अवशिष्ट समय को बिता दो। लोचन मीलन की क्रिया क्षण-व्यापिनी होती है। एक बार आँख -मीचने का नाम ही निमेष या क्षण है। तदनुमाप्य काल के समान ही यक्ष चार महीनो को बिताने का परामर्श देता है। क्योकि जिस प्रकार क्षण को कल्प मानना एक अध्यारोप है उसी प्रकार चार महीनो को नेत्र बन्द करके बिता देना भी एक मानसिक कल्पना ही है। इस प्रकार की सलाह देने मे यक्ष का प्रयोजन यक्षिणी को विरह सताप से बचा लेना है। वह चाहता है कि विरह मे जो अपार दुख होता है उसकी अवधि तो क्षण भर की हो जिससे उसकी पत्नी का कुसुम-सदृश कोमल हृदय क्लेश की झुलस से बचा रहे। परन्तु विरह मे जिन मानसिक अभिलापाओ का सचय होता है उनसे वह हाथ धोना नहीं चाहता। इसीलिए अपनी अभिलापाओ को वह विरह की पूरी अवधि से गुणित करने का आश्वासन देता है, यथा—

पश्चादावा विरह गुणितं त तमात्माभिलाप
निर्वेक्ष्याव परिणत शरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ॥ २।४७ ॥

अर्थात् जब शरत्काल की रात्रियाँ शुभ्र ज्योत्स्नामयी होगी तब हम अपनी अभिलाषाओ को विरह रस की पूरी मात्रा से गुणित करके भोग

करेगे। यह वियोग का आनन्द पक्ष है।

वियोग एक ओर कृशता, सताप आदि दुःखो का देने वाला है, तो दूसरी ओर उसमे अपूर्व रस का सचय होता है। वह प्रेम के अन्तर्गत गम्भीरतम रहस्यो से हमारा परिचय कराता है। वियोग मे इन्द्रियो के विषय स्वय शिथिल पड़ जाते है। इन्द्रियाँ बाह्य तृप्ति का साधन न पाकर अन्तर्मुखी हो जाती है। उनमें विषय-द्वेष नाम की स्मर-दशा उत्पन्न होती है। यक्ष-पत्नी के नेत्र चन्द्रमा की किरणो को, जो गवाक्ष-मार्ग से रात्रि के समय उसके भवन मे प्रवेश करती है और जिन्हे कभी वह प्रीति से देखा करती थी, देखने के लिए आगे बढते है। चन्द्रमा शिशिर दीधिति है, विरहिणियो के सताप ज्वर को शान्ति देने से वह उद्दीपन सामग्री है। उसकी रश्मियाँ यक्षिणी को पूर्व समय का स्मरण कराती है, इसलिए एक बार उसके मन मे वही पूर्व प्रीति जाग्रत् होती है, परन्तु विषय द्वेष के कारण उसके नेत्र फिर लौट आते है, यथा—

पादानिन्दोरमृतशिशिराञ्जाल मार्ग प्रविष्टा-
न्पूर्व प्रीत्या गतमभिमुख सनिवृत्त तथैव। २। २७॥

जब अन्तर मे विरह की ज्वाला हो तब बाह्य इन्द्रियो की रुचि पर ध्यान देने का किसे अवकाश मिलता है? यह वैराग्य स्वयं उत्पन्न होता है। परन्तु यह विषय-द्वेष बडा विलक्षण है। इन्द्रिय-भोग्य रति के प्रति वैराग्य उत्पन्न करने पर भी वह स्थायी रति की पुष्टि करता है। उस रति का दूसरा नाम स्नेह है। इस स्नेह का मूल अन्योन्य भाव निबन्धन रूप प्रेम मे है। कालिदास ने अन्यत्र इस प्रेम की व्याख्या यो की है—

रथाग नाम्नोरिव भाव बन्धनं बभूव यत्प्रेम परस्पराश्रय
(रघुवश ३। २४)

अर्थात् सच्चा प्रेम चकवा-चकई के समान पति-पत्नी मे अन्योन्याश्रय (एक दूसरे के लिए) होता है। वह प्रेम सब भावो को बाँध लेता है, अर्थात् सब दूसरे सासारिक और आध्यात्मिक भाव उसी प्रेम के बन्धन की अधीनता स्वीकार कर लेते है। वे अपनी सत्ता को प्रेम के साम्राज्य मे विलीन करके आत्म-समर्पण करते है। फिर और प्रकार की रति को उत्पन्न होने का अवसर ही नही मिलता। यक्ष-यक्षिणी का प्रेम भी चकवा-चकई के समान है। यक्षिणी को चक्रवाकी के समान अकेली कहा गया है (चक्रवाकीमिवैका २, २०)। उसका सहचर उससे

वियुक्त है। (दूरी भूते मयि सहचरे)। इस अवस्था मे परस्पराश्रित रति की क्या दशा होगी ? यह तो स्पष्ट है कि वह अपना तृप्ति-साधन नही पाती। पर क्या कभी यह सम्भव है कि वह अपने निसर्ग आलम्बन से विरत होकर अन्यत्र जा सके ? कदापि नहीं; इसीलिए विप्रलम्भ शृगार मे अरति नामक काम-दशा उत्पन्न होती है। यह बाह्य अरति आभ्यन्तरिक रति को पुष्ट करती है। इसका कारण है—

स्नेहानाहु किमपि विरहे ध्वसिनस्ते त्व भोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचित रसा. प्रेमराशी भवन्ति ॥ २। ४६ ॥

अर्थात्, विरह मे स्नेहो को कुछ लोग न जाने क्यो क्षयशील कहने लगते है, वस्तुत तो वे इष्ट वस्तु के अभोग से प्रवृद्ध होकर प्रेम की राशि मे परिणत हो जाते है। प्रेम[1] राशि बनाने के लिए कवि को स्नेहो की (स्नेहान्) इष्टि है, स्नेह की नही। 'स्नेहान्' पद उस अवस्था का सूचक है जहाँ सभी स्नेह भाव उसी एक इष्ट वस्तु के स्नेह के अन्तर्गत हो जाते है। वह स्नेह-दुकूल जिसके चार छोर चार स्थानों मे बँधे हुए हो, प्रियतम के सब भाव निबन्धनो को अपने अक मे कैसे समेट सकता है ? उस दशा में इष्ट वस्तु को स्नेह के बहुवचन की प्राप्ति नही हो सकती। ऐसे परस्पर स्निग्ध भावो से ही यक्ष-यक्षिणी बँधे हुए है। इस स्नेह का उनको ज्ञान भी है। यक्ष कहता है—

१—जब युवा युवती के चित्त मे एक दूसरे के प्रति विस्रम्भ चरम सीमा को पहुँच जाता है, तब उनका चित्त परस्पर दर्शन-स्पर्शन-संभाषण आदि से एक दूसरे के प्रति द्रवीभूत होने लगता है। उसी भावनिर्यास का नाम स्नेह है। वियोग दशा मे स्पर्श आदि की संभावना न रहने से कुछ लोग कहते है कि स्नेह के द्रवीभूत होने का कारण जाता रहा। इसलिए वे स्नेह को लुप्त हुआ समझ लेते है। पर वास्तव में वह स्नेह भीतर-ही-भीतर संचित (सम्भृत) होता रहता है और अंत में प्रेम की राशि ही बन जाता है।

विस्रम्भे परमां काष्ठामारूढे दर्शनादिभिः।
यत्र द्रवत्यन्तरंगं स स्नेह इति कथ्यते ॥

श्रीशिगभूपालः

जाने सख्यास्तव मयि मन. सम्भृतस्नेहमस्मा-
दित्थ भूता प्रथम विरहे तामह तर्कयामि ॥ २।३१ ॥

अर्थात्, मैं जानता हूँ कि तुम्हारी सखी का मन मुझमे स्नेहाप्लुत है, इसीलिए मैं इस प्रकार की विविध कल्पनाएँ कर रहा हूँ। ये तर्कणाएँ आत्म-श्लाघा के लिए नही है, न इसलिए है कि मैं मुग्ध-बुद्धि होकर आत्म-सौभाग्य के मधुर स्वप्न देखता हूँ, बल्कि मेरी वास्तविक प्रतीति है कि हमारा स्नेह इतना सम्भृत और उपचित है कि यक्षिणी की विधुर दशा परम काष्ठा को पहुँच गई होगी। ऐसी विरहविधुरा जाया के समीप यक्ष कुशल समाचार भेजता है। यह कुशल शरीरगत अव्यापन्नता की सूचक तो है ही, साथ ही उन स्नेहो की अक्षुण्णता का सदेश भी ले जाती है जो किसी समय सम्भृत थे, पर वियोग होने पर जिनके विषय मे कुछ लोग उड़ाया करते है कि अब वे क्षीण हो गए होगे। ऐसे प्रवाद (कौलीन) को फैलानेवाले लोग उत्तम स्नेह के मर्म को क्या जाने। उनका परिचय मन्द या मध्यम स्नेह तक ही सीमित होता है। प्रौढ स्नेह वह है जो प्रवास आदि विरह दशा मे भी जब प्रियजन की चित्तवृत्तियो का कुछ समाचार नही मिलता सतत बढता रहता है और दूरीभूत सहचरो के हृदयो मे अमित क्लेश की उत्पत्ति करता है—

प्रवासादिभिरज्ञातचित्तवृत्तौ प्रिये जने।
इतर क्लेश कारी यः स प्रौढ. स्नेह उच्यते ॥२। ११४।
रसार्णवसुधाकर।

यक्ष-यक्षिणी उसी स्नेह के भोगी है। इस स्नेह की अभिव्यक्ति वियोग मे विविध अभिलाषाओं के रूप में प्रकट होती है। इन अभिलाषाओं का आलम्बन एक ही है, इसीलिए यद्यपि ये नाना प्रकार की होती है, तथापि उनका समुदाय एकत्व विशिष्ट ही कहा जायगा (तं तमात्माभिलाषं २, ४७)। एक ही समवस्थान मे संचित इन अभिलाषाओं का संभोग (निर्वेश २, ४७ निर्वेक्ष्याव: की संजीवनी टीका) अत्यन्त सम्पन्न होता[1] है। उसके स्वरूप की कुछ कल्पना कालिदास के ही शब्दो से हम

१—मयव्यलीकस्मरणद्यभावात् प्राप्त वैभवः।
प्रोषितागतयोर्यूनोर्भोगः सम्पन्न ईरित· ॥
रसार्णवसुधाकर २। २२४ ॥

कर सकते है। विरह मे यक्ष जिन सम्भोग-मुद्राओं के स्मरण से विह्वल हो रहा है वे ही विप्रलम्भ से पूर्व उसके रतिजनित आनन्द को बढाती थीं। यक्ष-पत्नी उसके कंठ मे अपनी भुजलताओं का निभृत उपगूहन करके शयन मे प्रवृत्त होती थी (त्वमपि शयने कंठलग्ना पुरा मे। निद्रा गत्वा २,४८)। यक्ष भी निर्दयाश्लेप मे प्रवीण था (निर्दयाश्लेष हेतोः २,४३)। प्रणय मे कुपित भार्या के मान को विगलित करने के लिए वह चरणावपात रूप प्रीणन क्रिया मे भी कुशल था (२,४२)। कल्प वृक्ष से चुवाया हुआ विभ्रमादेशदक्ष मधु भी दोनो पीते थे (२। ११, ३२)। उनके इच्छानुकूल सभोग (सार्धमिच्छारतै २। २६, मत्संभोगः २, २८), सुरत श्रम को दूर करनेवाले हस्तसवाहन (२।३३), निर्दयाश्लेप, जायानुरंजनविधि और मधुपान विलास सब शापान्त की प्रतीक्षा कर रहे है। इनके सचय से आगे चलकर संभोग अत्यन्त सम्पन्न हो उठेगा। इनकी तात्कालिक उत्कठाजनित क्रिया संदेश[1] रूप है। इस प्रकार यहाँ उस काम-भाव का जिसके कारण यक्ष अत्यन्त अधीर है, उस विरह-प्रवास का जो शाप की विवशता से उसको अपनी पत्नी से पृथक् रक्खे हुए है, तथा उस दशा के स्नेह और प्रेम का कुछ वर्णन किया गया है। आगे यक्ष और यक्षिणी के सदेश और उनकी स्मर दशाओं की समीक्षा होगी।

पूर्व परिचित समागमाभ्यास के कारण भय और घबराहट या पीड़ा से रहित होने से प्रवासान्त संभोग अत्यन्त सम्पन्न होता है।

१—'संदेशस्तु प्रोषितस्य स्ववार्ता प्रेषणं भवेत्।'

यक्ष और यक्षिणी

यक्ष और उसकी पत्नी चक्रवाक-चक्रवाकी के समान परस्पर आसक्त थे। अपनी पत्नी का वर्णन करते समय यक्ष ने इस सम्बन्ध की ओर संकेत किया है—

दूरी भूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैका। २।२० ॥

अर्थात्, चक्रवाकी के समान वह मेरी पत्नी अकेली होगी, क्योंकि मैं उसका सहचर उससे बिछुड गया हूँ।

क्या सयोग में और क्या वियोग मे सब प्रकार के प्रेम के उत्तम उपमान इस देश के कवि समय के अनुसार चक्रवाक मिथुन को लेते है। यह उपमा वर-वधू के प्रेम को प्रदर्शित करने के लिए वैदिक काल से चली आती है। विवाहित दम्पति के लिए आशीर्वाद प्रयुक्त करते समय अथर्ववेद मे कहा गया है—

इहेमामिन्द्र संनुद चक्रवाकेव दम्पती।
प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम् ॥

काड १४। अनु० २, म० ६४।

अर्थात्, हे इन्द्र, तुम इन दोनों पति-पत्नी को इस लोक मे चक्रवाक-चक्रवाकी के समान प्रेरित करो जिससे दोनो सतान से कल्याण वाले होकर पूर्ण आयु का भोग करे। इसे ही चक्रवाक संवनन कहा गया है (हिरण्य केशीगृह्य सूत्र, १।२४।६)। सयोग मे जो प्रेम का आदर्श है वियोग मे भी वही अक्षुण्ण बना रहता है। इसीलिए कालिदास ने दोनो पक्षों[1]

१—संयोगपक्ष, यथा रघुवंश में (३।२४) दिलीप और सुदक्षिणा का प्रेम। वियोगपक्ष, यथा मेघदूत (२।२०) और कुमारसम्भव ५।२६।

मे इस उपमान का अपने काव्यो मे उपयोग किया है।

चक्रवाकी वियोग मे सम्भवत. जानती है कि उसका सहचर सरोवर के अपर तट पर है। यक्ष भी अपने संदेश मे अपने स्थान का निर्देश करता है—

तामायुष्मन्मम च वचनादात्मनश्चोपकर्तुं ।
ब्रूयादेवं तव सहचरो रामगिर्याश्रमस्थ ॥

अर्थात् हे आयुष्मान्, मेरी प्रार्थना के अनुरोध से तथा अपने को परोपकार द्वारा सम्मानित करने के लिए तुम मेरी पत्नी से कह देना कि तुम्हारा सहचर रामगिरि पर्वत के आश्रम मे ठहरा हुआ है और तुम्हारी कुशल पूछता है। यहाँ मेघ को 'आयुष्मन्' पद का सम्बोधन दिया गया है क्योकि एक ओर वह यक्ष के अव्यापन्न जीवन का सदेश ले जाता है तथा दूसरी ओर यक्षिणी से भी उसका पहला प्रश्न उसकी जीवित आयु के विषय मे ही होगा, यथा—

अव्यापन्न कुशलमवले पृच्छति त्वा वियुक्त. ।
पूर्वाभाष्य सुलभविपदां प्राणिनामेत देव ॥२।३८॥

अर्थात्, यक्ष स्वयं कुशल से है और हे अबले, तुम्हारी कुशल पूछता है। जिन पर सहज विपत्ति पड़ी है उनका पहला प्रश्न ऐसा ही होता है।

वियोग में चकवा-चकई किस दशा को प्राप्त होते है ? वे भी शाप-वश सुलभ-विपद है। वे एक दूसरे को सम्बोधन करके चिल्लाया करते है। 'परस्पराक्रन्दिनि चक्रवाकयो. पुरा वियुक्ते मिथुने कृपावती ।'

(कुमारसम्भव ५।२६)

विरहियो के इस परस्पराक्रन्दन से किसी समय पार्वती दयावती होती थी। मेघदूत मे मेघ को उसी अनुकम्पा का करने वाला कहा गया है। (विधुर इति वा मय्यनुक्रोश बुद्ध्या २।५२)। सम्भव है चकवा-चकई इस क्रन्दन को, जिसे वे एक-दूसरे को लक्ष्य करके रात भर रटते रहते हैं न सुनते हो, पर उनकी प्रतीति यही रहती है कि वे यदि एक-दूसरे को देखते नही तो सुनते अवश्य है। परन्तु यक्ष का विश्वास है कि राम-गिर्यस्थ सहचर कितना भी उच्च स्वर से क्रन्दन करे वह अलकास्थित जाया को नही सुनाई दे सकता—

सोऽतिक्रान्तः श्रवण विषय लोचनाभ्यामदृष्टः । २।४० ॥

कहाँ वह पहली अनुरक्ति जिसके कारण शब्दों से कह सकने योग्य वार्ता को भी यक्ष कर्ण के समीप मुख ले जाकर कहता था, अर्थात् उसमें अन्तर की इतनी अधिक असहिष्णुता थी और कहाँ यह दशा जिसमे न वह आँखों से देखा जाता है और न कानो से सुन पड़ता है। इसलिए मेघरूप सन्देशवाहक की आवश्यकता हुई है (त्वामुत्कंठाविरचितपद मन्मुखेनेदमाह) जो दोनो के बीच में पड़कर यक्ष के आक्रन्दन को लक्ष्य तक पहुँचा दे और फिर वहाँ से प्रतिसन्देश लाकर उसके जीवन की रक्षा कर सके (२।५०)। विधि का विधान इस समय उन दोनों का बैरी ही रहा है। न्याय की दृष्टि से यह विधान चाहे सत्य की रक्षा ही कर रहा हो, परन्तु यक्ष और यक्षिणी को वही अपने मार्ग का कटक दीखता है (विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः २।३९)। वह दैव सासारिक दृष्टि से अत्यन्त क्रूर है, क्योकि वह किसी प्रकार के भौतिक संगम को सहन नही कर सकता (क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः)। इस प्रकार का कठोर नियन्त्रण जिनको विश्लेषित कर रहा है उन यक्ष-यक्षिणी की अवस्था का वर्णन उत्तर मेघ के संदेश रूप मे हुआ है।

यक्ष ने यक्षिणी को अपनी गृहिणी कहा है (मद्गोहिन्याः २।१४)। वह यक्ष-पत्नी अत्यन्त पतिव्रता है (एक पत्नी १।१०, जिसका एक ही पति हो)। जिनमे भर्ता के चित्त का अविकल प्रतिविम्ब पडता है वे स्त्रियाँ पतिव्रता होती है—

भवन्त्यव्यभिचारिण्यो भर्तुरिष्टे पतिव्रताः।(कुमारसम्भव ६।८६।।)

यक्ष भी जानता है कि यक्षिणी उसका दूसरा प्राण ही है, अर्थात् शरीरान्तर मे सक्रमित उसका जीवन ही यक्षिणी है। इसका फल यह है कि यद्यपि दोनो एक दूसरे से वहुत दूर है, तथापि विरहजनित भाव दोनो मे समान ही है। तथा—

आगेनागं प्रतनु तनुना गाढतप्तेन तप्त,
सास्रेणाश्रुद्रुतमविरतोत्कठमुत्कंठितेन।
उष्णोच्छ्वाससमधिक तरोच्छ्वासिना दूरवर्ती,
सकल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्ध मार्गः।।२।३९।।

यक्ष अपनी पत्नी को सदेश देता है कि वियोग मे जो दशा तुम्हारी हुई होगी वही दशा मेरी हो गई है। तुम अत्यन्त कृश हो गई होगी, मै भी कृश हूँ। तुम्हे संताप होगा, मुझे भी विरह-ताप की विकलता है।

तुम्हारे नेत्रो से अश्रुधारा गिरती होगी, मैं भी नयनसलिल से बार-बार अभिभूत होता हूँ। तुम्हे निरन्तर विरहोत्सुक्य ने दबाया होगा, मुझे भी सतत उत्कठा रहती है। तुम गरम निःश्वास छोड़ती होगी, मैं भी उष्ण श्वास लेता हूँ। मैं दुरवर्ती हूँ, इसलिए इन्ही सकल्पो द्वारा तुम्हारे साथ इस समय एकता का अनुभव कर रहा हूँ, मानो मेरे अंगों का तुम्हारे अगो मे सक्रमण हो रहा है। इस श्लोक का भाव कई अन्य श्लोकों की कुजी है। विरह मे दस प्रकार की काम-दशा नायक-नायिका को सताती है। उनमे से कई की ओर इस श्लोक मे सकेत है। उनका विस्तृत विवेचन करने से पूर्व हमे यक्षिणी के सुन्दर स्वरूप को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए—

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी,
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्या,
या तत्र स्याद्युवति विषये सृष्टिराद्येव धातुः ॥२।१०॥

वह कृशागी है, उसकी दन्तपक्ति अत्यन्त नुकीली है, उसके ओष्ठ लाल बिम्बाफल के सदृश है, उसकी गात्रयष्टि बीच मे पतली है, उसके कटाक्ष चकित हरिणी के नेत्रो की स्पर्धा करते हैं, उसकी नाभि गम्भीर है, नितम्बभार से उसकी मन्थर गति है, और स्तनभार से वह आगे को झुकी रहती है—इन लक्षणो के एकत्र समवाय से ऐसा प्रतीत होता है मानो वह अलकापुरी की युवतियो मे विधाता की प्रथम रचना है। उसके सौन्दर्य की इयत्ता नही है। अलका के सब ही यक्षो की गृहिणियाँ उत्तम है (उत्तमस्त्रीसहाया, २।३)। पर उसी अलका में (तत्र) हमारी यक्षिणी प्रथम स्थान की अधिकारिणी है। उसके अंगों में सौकुमार्य गुण भी है। उसको कवि ने बाला की पदवी (२।२०) दी है। वह प्रथम यौवन का अतिक्रमण कर द्वितीय यौवन मे पदार्पण[1] कर चुकी है। इस

१—आलंकारिकों ने स्त्रियों में यौवन की चार अवस्थाएँ मानी हैं। प्रथम यौवन में बालपन का चाञ्चल्य और यौवन चिह्नो का उद्गम रहता है। अंगनात्व का परिचय करानेवाले स्तन आदि व्यंजन अपना विस्तार करने लगते है जिससे स्त्री के चित्त मे कुतूहल उत्पन्न होता है। द्वितीय यौवन में वे सब लक्षण

अवस्था में प्राय बालाएं मानिनी हुआ करती है, इसलिए यक्षिणी भी मानिनी है (२-३५) और प्रणयकोप मे दक्ष है। उसमे पद्मिनी के सब लक्षण विद्यमान है। वह थोड़ा बोलती (परिमितकथा) और थोडा सोती (याममात्र) है। ऐसी पत्नी को पाकर जो सब प्रकार भर्ता की अनुकूलवर्तिनी है यक्ष का अपने-आपको सौभाग्यसपन्न मानना नितान्त स्वाभाविक है, पर उसके वर्णन का कारण सुभगमन्यभाव नही है। वस्तुतः प्रथम विरह मे (२-३१) यक्षिणी की वैसी ही दशा हो गई होगी जैसा कि यक्ष ने अनुमान किया है। पति के विरह मे किसी भी पतिव्रता की वैसी ही अवस्था होना स्वाभाविक है।

पतिव्रता स्त्री का जैसा वर्णन विरह मे कालिदास ने किया है वह इस देश के घर-घर की वनितासमाज की सम्पत्ति है। वे भाव सर्वदा ही यहाँ के नारी-जीवन को पुष्ट करते आए है। बिरह मे यक्ष-पत्नी ने अपने आभूषण उतारकर रख दिए है (सा सन्यस्ताभरणबला पेशल धारयन्ती), उसने अगराग लगाना और केशों का सस्कार करना छोड

---

४ उपचित हो जाते है जिनका कवि ने परिगणन किया है, यथा—

स्तनौ पीनौ तनुर्मध्यः पाणिपादस्य रक्तिमा।
नितम्बो विपुलो नाभिर्गभीरा जघनं घनम्॥
व्यक्ता रोमावली स्नैग्ध्यमंगकेशरदाक्षिणि।
द्वितीय यौवने तेन कलिता वामलोचना॥
सखीषु स्वाशयज्ञा तु स्निग्धा प्रायेण मानिनी।
न प्रसीदत्यनुनये सपत्नीष्वभ्यसूयिनी॥
नापराधान्विषहते प्रणयेर्ष्याकषायिता।—रसार्णवसुधाकर।

तृतीय यौवन में नेत्रों में कुछ अस्निग्धता, कपोलों पर म्लान कान्ति, विच्छायता, खरस्पर्श, अंगो में कुछ श्लथता, अधर में मसृण राग, ये लक्षण प्रकट होते है। चतुर्थ यौवन में स्तन-नितम्बादि में जर्जरत्व आ जाता है, कुछ अनुत्साह और असमर्थता भी दृष्टिगोचर होती है। रूप गोस्वामी के अनुसार वय चार है जिनके नाम क्रमश ये है—वयः संधि, नव्य वय, व्यक्तवय, पूर्णवय। बाल और यौवन की संधि का ही नाम प्रथम यौवन है। नव्य वय का नाम द्वितीय यौवन है, और व्यक्त तथा पूर्ण क्रमशः तृतीय और

दिया है (शुद्धस्नानात्परुपमलकम्), उसके नेत्र रोते-रोते सूज गए हैं (प्रबलरुदितोच्छूननेत्र प्रियायाः), उनमें अंजन की चिकनाई नही रही है (अंजन स्नेहशून्य), वह पृथ्वी पर सोती और रातो-रात जागती है (अवनिशयना, तामेवोष्णैर्विरह महतीमश्रुभिर्यापयन्तीम्), उसके वस्त्र मलीन है और हाथो के नाखून बढ गए है; वह त्रिवेणी या पंचवेणी की रचना करके केश-कलाप मे पत्रावली की योजना नही करती, वरन् उसने सब बालो को एक साथ बिना डोरे के ही लपेटकर वेणी बना ली है (एक वेणी २।२९, या शिखादाम हित्वा) जो अत्यन्त रुखी और स्थान-स्थान पर ऊँची-नीची है (कठिनविषमा २।२९)। ये सब चिह्न पतिव्रता स्त्रियो के है। यक्षिणी भी पतिव्रता स्त्रियो मे गणनीय है।

अब कुछ उन स्मरदशाओ पर विचार करना चाहिए जिनका संकेत अगेनाग श्लोक मे है। यक्ष विरह मे अत्यन्त कृश हो गया है। इसका प्रमाण है उसका रिक्त प्रकोष्ठ जिससे सुवर्ण का वलय खिसककर नीचे आ गया है (कनक वलयभ्रंशरिक्त प्रकोष्ठ, १-२)

चतुर्थ यौवन की जगह है। भक्तिरसामृत ग्रन्थ का प्रमाण देते हुए उज्ज्वल नीलमणि के टीकाकार श्री जीव गोस्वामी ने लिखा है कि कैशोर का ही नाम यौवन अवस्था है। कैशोर का पूर्व भाग वय संधि का काल होता है जब बाल्य और यौवन मिलते है। कैशोर का अपर भाग ही नव्यवय है, यही द्वितीय यौवन है। तीसरा भाग मध्य कैशोर और चौथा शेष कैशोर है। कालिदास ने यक्षिणी की जो विशेषताएँ यहाँ दी है वे ही कुमारसंभव में पार्वती के लिए भी कही है—नव्य वय यथा—

कुले प्रसूतिः प्रथमस्य वेधसस्त्रिलोक सौन्दर्यमिवोदितं वपुः।
अमृग्यमैश्वर्य सुख नवं वयस्तपःफलं स्यात्किमतः परं वद।५।४१।।

बाला—

तदा प्रभृत्युन्मदना पितुर्गृहे ललाटिका चन्दनधूसरालका।
न जातु बाला लभते स्म निर्वृतिं तुषारसंघातशिलातलेष्वपि।५।५५।

मानिनी—

इयं महेन्द्र प्रभृतीनधिश्रियश्चतुर्दिगीशानवमत्य मानिनी।
अरूपहार्यं मदनस्य निग्रहात् पिनाकपाणिं पतिमाप्तुमिच्छति।५।५३।।

यक्षिणी भी मनोव्यथा से अत्यन्त कृश हो गई है।

आधिक्षामा विरहशयने सनिषण्णैकपार्श्वा,
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषा हिमाशो. ।२।२६।।

वह ऐसी क्षीण है जैसे घटते-घटते चन्द्रमा की एक कला रह गई हो। यह कृशावस्था रूप व्याधि है जो विरह मे नायक-नायिका को पीडित करती है। यक्ष की दूसरी दशा सताप है। वह धनपति के क्रोध से सतप्त होकर मेघ से शरण माँगता है, उसके चित्त को तीव्र विरह व्यथा से कही शाति नही मिलती (२।४५), अतिशय ताप के कारण ही वह तुषराद्रि से आनेवाली अत्यन्त शीतल और हिमोत्कर पवनो का आलिगन करता है (२।४४)। यक्षिणी के ओष्ठ भी अशिशिर निःश्वासों से विवर्ण हो गए है। यक्ष को वारम्बार अश्रूमोचन होता है (अस्रैस्ताव-न्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते.मे २।४२)। यक्षिणी के नयनसलिल कभी उसकी वीणा के तारो को भिगो देते हैं और कभी नीद से झपकते हुए नेत्रो मे भरकर निद्रा का मार्ग अवरुद्ध कर देते हैं। यक्ष अपनी विरह-दशा से वनदेवताओ को अश्रुमोचन करता है (२।४३); उधर यक्षिणी भी दु खभरे भाव से अपने शरीर को धारण करती हुई मेघ को रुलाएगी (२।३०)। यक्ष की उत्सुकता ने ही उसको चेतनाचेतन मे कृपण वनाया है, मेघ को देखकर उसकी उत्कठा सदेश रूप मे प्रकट हुई है (त्वामुत्कठाविरचितपद मन्मुखेनेदमाह।२।४०)। यक्षिणी की उत्कठा भी वहुत गाढ है (गाढोत्कठा २।२०), मेघ को देखकर उत्कठा से उसका हृदय नये भावो से खिल जायगा (त्वामुत्कठोच्छ्वसितहृदया वीक्ष्य संभाव्य चैवम् २।३७)। इस प्रकार औत्सुक्य नाम की विरह-दशा भी दोनो मे समान है।

यक्षिणी को विषयो से द्वेष हो गया है। वह मधुपान नही करती। उसके नेत्र चन्द्र-ज्योत्स्ना को देखते है, पर अव उसमे पहले की-सी प्रीति नही टिकती। यह अरति वाह्य विपयों से इन्द्रियो को निर्व्यापार करके अन्दर ही अभिलापायो के प्रारम्भ करने मे लगाती है। यक्षिणी को अभिलाष और चिन्ता[1] दोनो प्रकार की कामदशा ने अभिभूत कर रक्खा है। वह अपने चित्त मे मिलनरात्रि के सम्भोग की अनेक प्रकार से

१—संगमेच्छा अभिलाषः। दर्शनसम्भोगयोः प्रकार भावना चिन्ता।

कल्पना करके उसके आनन्द का आस्वादन कर रही है।—

मत्संगं वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती। २।२४॥

वह प्रियतम के गुण-कीर्तन के लिए अपने बनाये हुए रागो को गाना चाहती है, पर प्रयत्न करने पर भी उसकी स्मृति मूर्च्छावश उसका साथ नही देती।

मद्‌गोत्रांक विरचितपदं गेयमुद्‌गातुकामा।

....

भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती २।२३।

ये गुण-कीर्तन और मूर्च्छा नाम की अवस्थाएँ हैं। वह उन्निद्र रहकर जगृतावस्था मे रात बिताती है। कभी अश्रुविमोचन द्वारा ह्री-त्याग का परिचय देती है। इस प्रकार उसकी विकलता का अन्त नही है। पर इस प्रकार का शोकमय जीवन बडा दुर्भर होता है। इसलिए कवि ने उसके लिए कुछ विनोदो की कल्पना की है। प्राय. वे विनोद जो यक्ष-पत्नी मे पाए जाते है विरह मे सभी रमणियो के मन-बहलाव के लिए होते हैं। कभी वे अपने कान्त के चित्रलेखन मे व्यस्त होती हैं। यक्ष कहता है कि मेरी पत्नी भी विरह मे क्षीण हुई मेरी आकृति लिखती होगी। यक्षिणी के मन मे यह विश्वास दृढ है कि विरह मे यक्ष की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई है। इसलिए आठ महीने तक पति के दर्शन न पाने पर भी वह केवल मनोभावो की कल्पना से यक्ष के सादृश्य का अनुमान कर लेती है (मत्सादृश्य विरहतनु वा भावगम्य लिखन्ती)। कभी वह देवी और देवताओ के आराधन मे लगी होती है। कभी पास पिंजड़े मे बैठी हुई मैना से बात करती है। यक्षिणी स्वय यक्ष की प्रियतमा है, इसलिए वह उसका दिन-रात स्मरण करती है। इसी हेतु को वह सारिका मे आरोपित करके पूछती है, "हे मेरी रसिक सखी (रसिके)! तुम भी तो मेरे स्वामी को अतीव प्रिय थी, इसलिए क्या कभी तुम्हे भी वे याद आते हैं?" यहाँ करुण रस के पूर ने यक्षिणी के हृदय से निकलकर समीपस्थ सारिका को भी उसी भाव से आप्लावित कर लिया है। कभी वह वीणा लेकर यक्ष के गुण गाने बैठती है, परन्तु उसके नयन-सलिल इसमे बाधक होते हैं, और कभी उसकी स्मृति ही जवाब दे देती है। फिर सोचने लगती है कि स्वामी को गये हुए कितने मास व्यतीत हुए होगे, अभी विरह की अवधि कितनी और शेष है?

उसके पास एक-एक दिन की गणना है (दिवसगणनातत्परां १-१०), पर तो भी इस मास और दिवस की गणना को नेत्रो के गोचरीभूत करने के लिए देहली पर पूजार्थ चढाए हुए पुष्पो को फिर गिन-गिनकर रखती है। यह विनोद-सामग्री चाहे थोडी देर तक ही आमोद प्रदान करती हो, पर एक वार तो विरहिणी अवला वडी उत्सुकता के साथ इसमे प्रवृत्त होती है। ये विनोद दिन के लिए है। दिन मे गृहिणी स्त्रियाँ काम-काज मे लगी रहती है, इसलिए उन धन्धो मे उन्हे विरह-जनित अभाव इतना नही खटकता। परन्तु रात्रि मे मैना भी सो जाती है, देहली के कपाट बन्द हो जाते है, देवी-देवताओ की पूजा समाप्त हो जाती है, तूलिका के काले केश अन्धकार मे चित्र लिखने से विरत हो जाते है, इसलिए यक्ष अनुमान करता है कि रात्रि के समय उसकी पत्नी का शोक बहुत बढ़ जाता होगा। क्योकि रात के समय निर्विनोद मन केवल प्रियतम-स्मरण मे ही निरत होगा, इसलिए उसमे विरह की अनुभव-मात्रा भी वहुत वढ जायगी, इससे विरही के दूत को रात में ही सदेश देना उचित है। यक्ष का परामर्श है कि मेघ रात्रि के समय ही उसके भवन के गवाक्ष में स्थित होकर उसके सदेश को यक्षिणी के पास पहुँचावे। वह सदेश यक्ष-पत्नी को अत्यन्त सुखावह होगा—

मत्संदेशैः सुखयितुमलं पश्य साध्वी निशीथे।
तामुन्निद्रामवनिशयना सौधवातायनस्थ ॥ (२।२५)

गुरुतर शोक से जिसकी रात्रि अत्यन्त महती हो गई है, उसकी यही कामना है कि वह रात्रि किस प्रकार क्षण के समान व्यतीत हो। इसका उपाय केवल स्वामी का ससर्ग है जिसको पाकर कभी वह यह भी न जानती थी कि समय कहाँ गया। यक्ष उस संसर्ग-सुख को अपने सदेश द्वारा अपनी पत्नी को रात्रि मे देना चाहता है। कान्त की सदेशवार्ता उसके प्रत्यक्ष सगम के समान ही है, इसलिए रात्रि को सदेशहारी मेघ की भेट यक्षिणी को उस सुख का अनुभव कराएगी जिससे रात्रि का दुर्वट समय-भार किसी प्रकार शीघ्र ही हल्का हो। इसलिए भेट का समय रात्रि कहा गया है (पश्य साध्वी निशीथे)। यक्षिणी मेघ को विरह-शय्या पर एक करवट से सोई हुई दिखाई देगी (विरहशयने सनिपण्णैकपार्श्वां, २।२६)। उसके विरह मे गाढमनोव्यथा की व्यजना है, पर उतावलापन नही है। शाप ने जिस विरह की अवधि स्थापित कर दी है (विरह दिवस

स्थापितस्यावधे. २।२४), उसको जिस किसी प्रकार व्यतीत करने मे ही मनस्विनी स्त्रियो की परीक्षा है। उन्मत्त प्रलाप से कोई सृष्टि का कार्य असम्भव नही बना सकता। जो नियम सबका विधान करता है उसी से हमे सुख और दु ख दोनो मे सन्तोष ग्रहण करना योग्य है। यक्ष के सदेश का वह भाग सुवर्णाक्षरो मे लिखने योग्य है। वस्तुत' समय के भूत से भविष्य पर्यन्त विस्तार पर बड़े-बड़े अव्यक्त अक्षरो मे यही खुदा हुआ है। विपन्न जन ही अपने हृदय को शान्ति देने के लिए उसे पढा करते हैं, या ज्ञानी लोग सासारिक सुख की निस्सारता को समझने के लिए उसके अक्षरो को बाँचकर शिक्षा लेते है। वह नियम क्या है—

नन्वात्मान बहुविगणयन्नात्मनैवावलम्बे,
तत्कल्याणि त्वमपि नितरा मा गम' कातरत्वम्।
कस्यैकान्त सुखमुपनत दु खमेकान्ततो वा ?
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमि क्रमेण ॥२।५६॥

इसका हिन्दी अनुवाद जो राजा लक्ष्मण सिंह ने किया है उससे सचमुच हमारी भाषा एक शाश्वत नियम को इतने सरल अक्षरो मे कहने से गौरवान्वित हुई है। यथा—

मैं अपनो तन राखि रह्यो करिके अभिलाप हिये बिच भारी,
भामिनी तू हु धरै किन धीरज जाय मरी मत सोच की मारी।
काहू के दु.ख सदा न रह्यो न रह्यो सुख काहु के नित्त अगारी,
चक्रनिमी सम दोऊ फिरैं तर ऊपर आपनि-आपनि बारी॥

जिस देश मे नियति, भाग्य और कर्म की इतनी समीक्षा हुई हो, वही इस नियम की शरण लेकर वियोग-ग्रस्त चित्त को धैर्य देने की बात कही जा सकती है। जो यक्ष दयिता जीवितालम्बनार्थी होकर संदेश-कर्म में प्रवृत्त होता है वह स्वयं जीवन धारण कर सकेगा इसमे क्या प्रमाण है ? इसी प्रमाण को बताने के लिए इस श्लोक की सृष्टि हुई है। यक्ष कहता है कि नाना प्रकार की विगणनाओं, विविध सकल्पो (२-३९), तर्कणाओ (२-३१), अनेक अभिलापाओं (२-४७) और मनोभावो से मैं अपने जीवन को अवलम्बन दे रहा हूँ। जिस प्रकार शिव का अवलम्बन कैलास और विष्णु का अवलम्बन शेषनाग है, उसी प्रकार यक्ष के जीवन के अवलम्बन विविध मनोभिलाप है। यदि इन विगणनाओ का आश्रय उसे न मिलता तो अपने कुन्द-पुष्प सदृश कोमल जीवन को वह कैसे धारण

कर पाता ? उस वियोग मे जहाँ अपना विधाता वाम हो गया हो (विधिना वैरिणा रुद्धमार्ग.), जहाँ स्वामी के शाप से अपनी महिमा अस्त हो गई हो (अस्त गमित महिमा), जहाँ अपनी इन्द्रियाँ तक वैकल्य को प्राप्त हो गई हो, कौन धीरज बँधा सकता है ? वहाँ गीता का यही उपदेश काम देता है—

उद्धरेदात्मनात्मानं

अर्थात्, आत्मा को ही आत्मा का उद्धार करना चाहिए। यक्ष को धैर्य देने के लिए किसी बाह्य पदार्थ की अपेक्षा नही है, वह अपने अन्त:करण मे ही ऐसा परिवर्तन चाहता है जो किसी दूसरे विप्लवकारी भाव को जगने ही न दे। इसीलिए ऐसे चित्त को जिसकी प्रार्थना सर्वथा दुर्लभ है, वह अपनी आत्म-शक्ति से ही अवलम्बन दे रहा है। कालिदास जिस साधना के मानने वाले है उसमे सर्वत्र आत्मा ही आत्मा का कल्याण करती है। हम योग और अनुभव से जिस वस्तु का प्रत्यक्ष करना चाहते है वह हमारी आत्मा ही है जो अज्ञानवश इस शरीर मे खोई हुई है। कुमार-सम्भव मे इसी 'आत्मानमात्मनैवावलम्बे' वाले भाव को और स्पष्ट रीति से कहा गया है—

यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् ।३।५०।।

अर्थात्, शिवजी उस आत्मा को जिसे क्षेत्रज्ञ लोग अक्षर ब्रह्म के नाम से पुकारते हैं आत्मतत्त्व में ही देख रहे थे।[1] रामगिरि के आश्रमों मे रहनेवाला यक्ष भी अपनी चेतना को अत्यन्त विस्तृत और जाग्रत् करके आत्मा द्वारा ही आत्मा को अवलम्बन दे रहा है। एक ही आत्मा अद्वैत रूप से यक्ष और यक्षिणी दोनो मे व्याप्त है; कवि के शब्दों मे यक्ष-पत्नी यक्ष का ही द्वितीय प्राण है। शापभार लेकर यक्ष के रामगिरि पर्वत पर आ बसने से उस अनन्त सौदर्यमयी पत्नी की कथा हमारे लिए कुछ वाणी और श्रवण के विषय मे गोचर हो सकी है, अन्यथा अलका मे रहनेवाली उस सौन्दर्य-प्रतिमा का वृत्तान्त मर्त्यलोकवासी जन क्या जान पाते ? यक्ष की आत्मा मे जो कार्य हो रहा है, उसकी प्रतिध्वनि

१—और भी—

योगिनो यं विचिन्वन्ति क्षेत्राभ्यन्तरवर्तिनम् ।
अनावृत्तिमयं यस्य पदमाहुर्मनीषिण· ।।६।७७ कुमार० ।

का एक ही समान व्यवस्थित दूसरी आत्मा मे सुनाई देना अवश्यम्भावी है—

तत्कल्याणि त्वमपि नितरा मा गम कातरत्वम् ।

इसका तत् शब्द इसी अद्वैतघटित नियम की ओर सकेत करता है। यक्ष का जीवन कुशलपूर्वक है, इसी कारण यक्ष-पत्नी भी कल्याणी है। यक्षिणी का जो सौभाग्य-वैभव है वही यक्ष के जीवन धारण करने का कारण है।[1] इस प्रकार परस्पर आत्मा का आत्मा मे प्रतिबिम्ब पड रहा है। पत्नी के बल पर पति का अपने-आपको सुभग समझना (सुभगमन्य-भाव), और पति के आश्रय से पत्नी की कल्याणमयी पदवी—ये दोनों प्रेम की एकरूपता के द्योतक है। इसी कारण विरह मे जो भाव यक्ष-पत्नी के हृदय मे उपनत होते है उन सबसे यक्ष भी उपपन्न होता है।

गुणपताका का उद्धरण देकर मल्लिनाथ ने विरही जनो के लिए चार प्रकार के विनोदस्थान कल्पित किये है, यथा—

वियोगावस्थासु प्रियजनसदृशानुभवन ततश्चित्र कर्म स्वप्नसमये दर्शनमपि ।
तदग स्पृष्टानामुपनतवता दर्शनमपि प्रतीकारोऽनग व्यथितमनसा कोऽपि गदित.।।

विरह मे मन्मथक्लिप्ट मन को शान्ति देने के लिए विरही स्त्री-पुरुप कभी प्रिय की सदृश वस्तु के दर्शन करते हैं, कभी एक-दूसरे का चित्र खीचते हैं, कभी निद्रा लेकर स्वप्न मे प्रिय के दर्शन करते है और कभी प्रियतम की स्पृष्ट वस्तुओं का स्पर्श करके सुख का अनुभव करते हैं। विप्रवास मे साक्षाद्दर्शन तो नितान्त असम्भव होता है, अतएव उसके प्रतिनिधिभूत चित्रादि दर्शनो से ही काम निकाला जाता है। यक्ष-यक्षिणी का प्रेम चित्रादि दर्शन और गुण-श्रवण से पूर्वानुराग की भाँति उत्पन्न नही होता, वह सम्भोग-अवस्था मे अत्यन्त प्ररूढ़ हो चुका है, और विप्र-कृष्ट दशा मे सादृश्य-दर्शन, प्रतिकृति लेखन, स्वप्नादि द्वारा स्फुट होकर स्थायीभाव की पुष्टि कर रहा है। सभोग शृंगार मे प्रियतम का दर्शन तुरन्त रति की पुष्टि करता है। वियोग अवस्था मे यक्ष ने जिन्हे साक्षा-

---

१—हे कल्याणि सुभगे, त्वत्सौभाग्येनैव जीवामीति भाव:
अर्थात् हे सौभाग्यवती, तुम्हारे सौभाग्यबल से ही मै जीता हूँ।
—मल्लिनाथ

दर्शन का प्रतिनिधि बनाया है उन सादृश्य चित्रादि से भी वह तुरन्त रति का सुख अनुभव करना चाहता है। उसकी हार्दिक इच्छा यही है कि जहाँ भी पत्नी के दर्शन हो, चित्र में या स्वप्न मे, सदृशवस्तु मे या तदंगस्पृष्ट वस्तु मे, सर्वत्र ही आलिंगन का अनुभव किया जाय। यहाँ तक कि जब वह स्वय अपनी पत्नी को स्वप्न मे दिखाई पडे, तब वह भी उसके साथ अशिथिल परिरम्भ मे व्यापृत हो। यथा—

माभूदस्या प्रणयिनि मयि स्वप्नलब्धे कथचि
त्सद्य कंठच्युतभुजलता ग्रन्थि गाढोपगूढम् ॥२।३४॥

अर्थात्, जिस यक्षिणी को स्वप्नज सम्भोग की उत्कट अभिलाषा होने पर भी निद्रा नही आती क्योकि उसके नेत्र अश्रुपूर से आप्लुत रहते है, उसको यदि किसी प्रकार निद्रा आ भी जाय तो मेघ को उचित है कि वह एक पहर तक उसके प्रवोध की प्रतीक्षा करे। अन्यथा अकाल-प्रयुक्त स्तनित वचनों से यक्षिणी की निद्रा भंग होकर कथंचित् स्वप्न मे मिले हुए स्वामी के कठ के भुजलतोपगूहन का सुख क्षणमात्र मे ही विलीन हो जाने का भय है। जिसके हृदय मे अपनी भार्या के आनन्द-हेतु भी ऐसी सुकुमार आकाक्षाएँ है, उसकी स्वय सम्भोग-प्राप्ति के प्रयत्न मे असफल होने पर कैसी विह्वल दशा होगी ? दोनों के भाग्य मे रोना ही रोना लिखा है। यक्षिणी वीणा लेकर बैठे तो उसके नेत्र तुरन्त बड़े-वडे आँसू टपकाने लगते है, यक्ष चित्रलेखन मे प्रवृत्त हो तो अश्रुधारा से उसकी दृष्टि कुण्ठित हो जाती है। दिन और रात मे सदा ही उष्णोच्छ्वास छोड़ना और उष्ण नेत्रजल पीना यही वियुक्त प्राणियो के लिए स्रष्टा की सृजन-प्रवृत्ति है। सदृश वस्तुओ मे यक्ष के नेत्र अपनी प्रिया की रूप-राशि को खोजते फिरते है। यथा—

श्यामास्वग चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपात,
वक्त्रच्छाया शशिनि शिखिना वर्हभारेपु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुपु नदी वीचिपु भ्रूविलासान्,
हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चडि सादृश्यमस्ति ॥२-४१॥

अर्थात्, प्रियंगु लताओ में उस भामिनी के तनु की सुघराई है, चकित हरिणी के कटाक्षो मे चचल अपागो की समता है, चन्द्रमा के बिम्ब मे मुख की आप्यायित उज्ज्वलता है, मयूरो के पिच्छभार मे केश-कलापो की घटा है, और नदियो की चचल तरगो मे भ्रू-विक्षेपों की बंकिम

गति है। इस प्रकार उसके प्रत्येक अंग के वैभव की सुरक्षा के लिए प्रकृति मे पृथक्-पृथक् स्थान कल्पित है। परन्तु एक स्थान मे इन सौंदर्य राशियो का समवाय कही देखने को नही मिलता। इसीलिए यक्ष की आलिंगन-कामना मन-की-मन मे ही रह जाती है। यक्षपत्नी को विधाता ने अलका की समस्त सुरसुन्दरियो के आदि मे रचा था। उसकी निर्माण-सामग्री मे से ही कुछ अवशिष्ट भाग श्यामालता, चन्द्रमा, हरिणी और मयूरो के भाग्य मे आ गया है। उसको एक बार रचकर उसकी प्रतिकृति रचने की चेष्टा विधाता ने कभी की ही नही। अतएव यदि अलका की परिधि से बाहर बसे हुए इस ससार की किसी एक ही वस्तु मे उस वाला के समग्र सादृश्य के दर्शन हमे न हो तो इस उपालम्भ का भागी कौन है? यह स्पष्ट है कि इस अभाव के लिए ब्रह्मा दोषी नही है। ब्रह्मा के लिए तो यह परम कल्याण का चिह्न है कि अपनी प्रथम रचना मे उसने जिस अपरिमेय कौशल का परिचय दिया, उसकी प्रतिमूर्ति रचने की चेष्टा करके वह फिर आत्मविडम्बन और परिहास दोष का भागी नही बना। अपनी कमनीय सृष्टि को अद्वितीय रखने की इच्छा किस शिल्पी को नही होती? प्राय: शिल्पी के प्रथम निर्माण में प्रयत्नातिशय होने के कारण उसकी आद्यकृति अतिशय सौन्दर्यवाली होती है और फिर उत्तरोत्तर साधन सामग्री के अपचयोन्मुखी होने से पहले जैसा निर्माण-सौष्ठव नही आता। जो विश्व का स्रष्टा होने के कारण शिल्प-कौशल का परम अधिष्ठाता है, उससे अपने शास्त्र के इस सामान्यातिसामान्य नियम का भी विघात क्यो होने लगा। यही कारण है जिससे विवश होकर यक्ष को कहना पडा—

हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चडि सादृश्यमस्ति

अर्थात्, एक स्थान मे फिर तुम्हारा सादृश्य इस ससार मे मुझे कही देखने को न मिला। वस्तुत अपने उपालम्भ का लक्ष्य यक्ष स्वय ही है। उसी का क्षीणपुण्य उसको अलका के बाहर रामगिरि पर ले आया है। अपने ही प्रमाद से वह अनन्त सौन्दर्य के सुख से वचित हुआ है। उसके दर्शन पाने की जिस चेष्टा मे वह निरत होता है उसी मे निष्फलता उसके सामने मार्ग रोककर खडी हो जाती है। जब यक्ष को अपनी पत्नी का समग्र उपमान एकत्र नही मिला, तब वह चित्र मे उसकी प्रतिकृति लिखने लगा—

त्वामालिख्य प्रणयकुपिता धातुरागै शिलाया
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तु म् ।
अस्रै स्तावन्मुहुरुपचितैर्दृ ष्टिरालुप्यते मे,
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सगम नौ कृतान्तः ॥२।४२॥

अर्थात्, प्रणय के कोपवाली तुम्हारी आकृति को अपने सामने गेरू आदि रञ्जक द्रव्यो से शिलापट्ट पर बनाकर जब मैं चाहता हूँ कि अपनी प्रतिकृति को भी तुम्हारे चरणो मे लिखूँ, तभी आँसुओ से मेरे नेत्र रुँध जाते है। विधाता कितना क्रूर है जो चित्र मे भी हमारे संगम को नही सह सकता ?

अत्यन्त विषाद से आत्मविवशता की अपनी दशा को कुछ न कहकर यक्ष विधि को उपालम्भ देता है। वस्तुत उसके मार्ग मे विधाता को व्यवधान देने की आवश्यकता नही, आत्मकृत दोष से ही वह चित्र-दर्शन से वचित रहता है। ब्रह्मा ने उसे उत्कृष्ट कोटि की सौभाग्य-लक्ष्मी प्रदान करके उपकृत किया था, पर अपने प्रमाद से ही वह उसे खो देता है। इसमे विधि-विधान को दोष देने का कोई अवसर नही। फिर अपनी भाव-विभोर अवस्था मे यदि वह रूप का प्रत्यक्ष करने वाली चक्षु इन्द्रिय को भी अक्षम बना दे तो इसका उत्तरदायित्व उसके अति-रिक्त और किस पर है ? पर इस संगम के न मिल सकने से यक्ष की वास्तविक हानि नही है। उलटे, उसके प्रेम की व्यजना और तीव्र हो जाती है और अधिकाधिक रसपोष की प्राप्ति से उसका कल्याण ही होता है। विरह-अवस्था मे समागम-अभिलाषाओ का किसी रूप मे भी पूर्ण न होना अच्छा ही है। अभुक्त रहने से ही वे बराबर गुणित होती जाती है और विरहान्त मे सचित होकर मिलती है। कवि ने स्वय ही यह नियम बताया है—

अभोगात्स्नेहा इष्टे वस्तुन्युपचितरसाः

अर्थात्, भोग न पाने से स्नेहो की रसवृद्धि होती है। जो अभिलाषा उत्पन्न होते ही अपने भोग से संयुक्त हो जाती है वह अल्पायु होने से पूर्ण रस का सचय नही पाती। कालपक्व होने से अभिलाषाएँ भी सार-पुष्ट हो जाती हैं। किसी चेतन वस्तु का जीवन जितना अधिक होता है उतना ही वह बाह्य रसों को अपने अन्दर खीचकर उन्हे शरीर का एकावयव बनाकर आत्मवृद्धि करती है। जीवन और सत्ता का यही

नियम अभिलाषा के विपय में भी घटता है। अभिलापा अधिक समय तक अभिलापा के ही रूप मे वनी रहने से रसवती हो जाती है। उसका अपना रूप तभी वना रह सकता है जव वह अभुक्त रहे। भोग ही मृत्यु और भोगविरह ही अमृत है। यक्ष के स्नेह और उसकी अभिलापाएँ विरह मे भी इसी भोगविहीन दशा मे है, इसी से वे वरावर पुष्ट होती जाती हैं।

विरह का तीसरा विनोद स्वप्नदर्शन है। यक्ष-पत्नी और यक्ष दोनो को स्वप्न मे एक दूसरे के दर्शन होते हैं। यक्षिणी के लिए लिखा है—

मत्सभोग कथमुपनयेत्स्वप्नजोऽपीति निद्रा ।
माकाड्क्षन्ती नयनसलिलोत्पीड रुद्धावकाशाम् ।।२।२८।।

अर्थात्, प्रत्यक्ष मे न सही स्वप्न में ही किसी प्रकार पति का संभोग प्राप्त हो जाय इसीलिए वारम्वार वह उन नेत्रों मे निद्रा चाहती है जिनमे निद्रा का स्थान आँसुओ से रुँधा हुआ है। जव उसको निद्रा मिल जाती है तव स्वप्नलब्ध गाढालिंगन भी प्राप्त होता है (२।३४)। दिन-रात जिस वस्तु की चिन्ता की जाती है सुपुप्ति-अवस्था मे भी उसी के दर्शन होते हैं। जव स्त्री स्वप्न मे प्रियतम को देखती है तव शरीरस्थ रस मे वाढ आने से उसे पुलकावली होती है, और उस प्रकल्पित जगत् मे जिसकी विधात्री वह स्वय है, पुरुप की ओर सन्निकृष्ट होकर वह सभोग-सुख का अनुभव करती है। उस उपगूहन मे प्रणयी के साथ जव उसका चित्त निर्भर रसयुक्त होता है तभी वह चेतना लाभ कर पुनः जाग्रत् अवस्था मे आती है। जितना ही अधिक उद्दाम यौवन होगा, चित्त को रस-निर्भरता की चरम अवस्था तक पहुँचने के लिए उतने ही अधिक समय की अपेक्षा होगी और फलतः आश्लेपसुख भी उतनी ही अधिक देर तक तृप्ति का लाभ करता रहेगा। सुख की पराकाष्ठा के वाद स्वय ही जाग्रत् अवस्था मे आना स्वाभाविक क्रिया है, पर कारणान्तर से निद्रा का भग हो जाना उस सुख का अप्राकृतिक विच्छेद है जो मानसिक व्यथा को उत्पन्न करने वाला है। इसीलिए यक्ष ने मेघ को परामर्श दिया है कि यदि वह यक्षिणी को सोती हुई (लब्धनिद्रासुखा) पावे तो पहर भर के लिए अपनी गर्जना वन्द रक्खे (स्तनित विमुख) जिससे उसकी निद्रा अकाल मे भंग न हो, और जो आलिंगन-सुख स्वयं परिपक्व होकर सावसान होना चाहिए वह समय से पहले ही शिथिल

(उच्छिन्न) न हो—

माभूदस्या. प्रणयिनि मयि स्वप्नलब्धे कथचि ।
तसद्य कठच्युतभुजलताग्रन्थि गाढोपगूढम् ।।२।३४।।

उद्दाम नर-नारियो के रतिसुख की मर्यादा एक याम है,[1] जैसा कि याममात्र सहस्व अर्थात् एक पहर तक प्रतीक्षा करना इन पदो से ज्ञात होता है ।

स्वप्न मे जो मानसिक विक्रिया के कारण शरीर मथा जाता है उससे जाग्रत् दशा के समान ही रति-ग्लानि होती है। इस प्रकार स्वप्न-शास्त्र की सूक्ष्म अभिज्ञता का परिचय कालिदास ने इस प्रसग के दो श्लोको मे (२-३४, ३५) दिया है। दूसरा श्लोक उसी सुरत-जनित अगखेद को व्यजित मानकर उसका उपचार बताता है,

तामुत्थाप्य स्वजलकणिका शीतलेना निलेन ।
प्रत्याश्वस्ता समभिनवैर्जालकैर्मालतीनाम् ।।१।३५।

यक्ष मेघ से कहता है कि तुम अपने तुषारो से ठढी हुई पवन द्वारा सोती हुई मेरी भार्या को पहले जगाना और फिर जब मालती के नये खिले हुए पुष्पो की सुवास से वह सुस्थित (प्रत्याश्वस्ता) हो, तब उससे संदेश कहना। यहाँ जिस शीतल और सुगन्धित पवन रूप उपचार-सामग्री का वर्णन है उसे कालिदास ने अन्यत्र ऐसे ही प्रसग मे स्पष्टाक्षरो मे कहा है। जैसे उज्जयिनी मे शिप्रा के तुषारो से सपृक्त और विकसित कमलो के परिमल से सुगन्धित वायु को स्त्रियो की सुरत-ग्लानि हरने का काम सौंपा गया है, वैसे ही यक्षपत्नी के लिए भी शीतल और सुगन्धित-उपचार-पदार्थो की कल्पना की गई है। अत. यद्यपि याममात्र स्वप्न के बाद अतिवेल सुख से तृप्त हुई यक्षपत्नी की ग्लानि का स्पष्ट उल्लेख नही है तो भी ध्वनि से वह अर्थ आक्षिप्त हो

१—मल्लिनाथ ने इस विषय का उपयुक्त उद्धरण रतिसर्वस्व ग्रन्थ से दिया है। यथा,

एकधारावधिर्यामो रतस्य परमो मतः ।
चंडशक्तिमतोर्यूनोरद्भुतक्रमवर्तिनो ।।

शक्तयोरेकवारसुरतस्य यामावधिकत्वात्स्वप्नेऽपि तथा भवितव्य-मित्यभिप्रायः ।—मल्लिन्नाथ

जाता है।

यक्षिणी के स्वप्न-दर्शन मे रति-पुष्टि का वर्णन हुआ है। पर यक्ष के स्वप्न मे अलब्धरति से भावी शृगार के लिए सदाशाओ का क्षेत्र तैयार किया गया है। जिस प्रकार यक्ष-स्त्री कथचित् अपने पति से स्वप्न मे मिल जाती है। वैसे ही यक्ष भी कथमपि ही अपनी भार्या को प्राप्त करता है। जब रोते-रोते बहुत देर हो जाती है और नयनसलिल हारकर कुछ देर के लिए रुद्ध-प्रवाह हो जाता है, तब किसी-न-किसी तरह नीद आती ही है। उसी निद्रा की अवस्था मे यक्ष को स्वप्न-सदर्शन होता है। यथा—

> मामाकाशप्रणिहितभुज निर्दयाश्लेपहेतो
> र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसदर्शनेपु।
> पश्यन्तीना न खलु बहुशो न स्थलीदेवताना,
> मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशा पतन्ति ॥ २।४३

अर्थात्, जब किसी प्रकार स्वप्न मे तुमसे भेंट हो जाती है तब तुम्हे अंक मे भरकर निर्भर आलिगन करने के लिए मैं अपनी भुजाएँ आकाश मे फैलाता हूँ। इस प्रकार उन्हे शून्य मे फैली हुई देखकर अभिप्राय को समझने वाली वनदेवियाँ करुणा से भीजकर घने आँसुओ को बहाती है। वे ही अश्रु-बिन्दु नये तरु-पल्लवो पर मोती के सदृश दिखाई पडते है।

वनदेवियाँ तक जिसके दु ख से द्रवित होती हैं, वनस्थली को भी जिसने अपने समान शोकवाली बनाया है, वह यक्ष हम सबकी सत्काम-नाओ का पात्र है। जिसकी दशा पर सब ही आर्द्र होते है उसने मानो दड का प्रत्यादेश करने वाला अनुकम्पापत्र प्राप्त कर लिया। यद्यपि वह शाप की अवधि के शेप दिन भी काटेगा ही, पर अब उसकी महिमा अस्तंगमित नही, वह हम सबसे सम्भावित है। वह प्रेम की कसौटी पर कसा हुआ कंचन है जो रक्त-वर्ण होकर ससार के सन्मुख खड़ा है। उसने प्रीति की थी; वह प्रीति इतनी निमग्न दशा को पहुँची कि उसे भर्तृ-नियोग का भी ध्यान नही रहा। प्रीति करना ही उसका अपराध हुआ और इसी कारण उसे सुख से हाथ धोना हड़ा। ठीक है, प्रेम करके कौन सुखी हो सका है? पर यह श्रेय है कि विछोह-दु'ख की अवस्था मे ही प्रेम-जगत् का रहस्य उसे प्रकट होता है। उसको प्राप्त कर वियोगी तप्त स्वर्ण के समान प्रायश्चित्तीय दोष से निखर जाता है। इस कारुण्यभरे

विलाप से यक्ष सब प्राणियो की सत्कामनाओं को अपनी ओर आकृष्ट करता है। दैवी नियन्त्रण के विपय मे तो हम जान नही सकते, पर सुख-दु ख की चक्रनेमि पर सवार जितना प्राणि-जगत् है उसमे कोई ऐसा नही जिसकी सहानुभूति वियोग-व्यथाओं से अशरण बने हुए यक्ष के प्रति न हो।

रामगिरि पर जो सनसनाती हुई हवा चलती है वह मानो यक्ष के लिए प्रिया के जीवन का सन्देश लाती है। यद्यपि वह दयिता को प्राणा-वलम्बन देने की इच्छा से मेघ को दूत बनाकर भेज रहा है, पर तो भी वह सदेशवार्ता मे ही यह सूचित कर देना चाहता है कि वह जाया को अभी तक अव्यापन्न समझ रहा है। अहोरात्र बहते हुए समीरो मे उसकी यही भावना रहती है कि वे उसकी गुणवती प्रिया का स्पर्श-सुख लेकर आ रहे है। वायुतत्त्व के ही परमाणु त्वचा मे रहते है जिससे त्वचा स्पर्शनेन्द्रिय कहलाती है। सयुक्त रहकर यक्ष-यक्षिणी जिस स्पर्श-सुख का अनुभव करते, वियोग मे भी मानो स्पर्श की अधिष्ठात्री वायु उन्हे उसको प्रत्यक्ष[1] करना चाहती है। वस्तुत उत्तर से आनेवाली पवनो मे इस प्रकार की अपनी भावना ही यक्ष के सुखानुभव का कारण है। जितनी प्रवल उसकी कल्पना होगी, सुख की तन्मयता भी उतनी ही अधिक होगी। दक्षिण-रुख वहती हुई कौन-सी हवा यक्षिणी के गात्र-संस्पर्श-सुख से सपृक्त है इसके लिए कोई प्रमाण नही है। यक्ष केवल हिमालय की वायु को पहचान सकता है, उन तुषाराद्रिवातो मे फिर अधिक विवेचन नही कर सकता। उन सवका आलिगन करने की आव-श्यकता इसीलिए है क्योकि उसको सदा सन्देह रहता है, 'शायद यह झोका प्रिया के गात को छूकर आया है, क्या जाने वह उसकी देहली पर से ही फिर आया हो और वह वाद वाला स्पर्श-सुख को पा सका हो।' यह

१—वायु को कालिदास ने ही प्रत्यक्ष-मूर्ति कहा है। यथा शकुन्तला का मंगल श्लोक—यया प्राणिनः प्राणवन्तः। प्रत्यक्षाभिः प्रपन्न-स्तनुभिः। इस पर राघवभट्ट ने लिखा है—'अत्र वायोर्भट्टनये गुरु-नये च स्पार्शनप्रत्यक्षत्वात्प्रत्यक्षाभिरित्युक्तिः, अर्थात् कुमारिल और प्रभाकर दोनों के मत से वायु का स्पर्श प्रत्यक्ष होता है। इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से जन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष है।

सन्देह ही उसके विनोद को बढ़ाता है। हिमालय के अनिल-प्रवाह को जानने की क्या युक्ति है, इसका उत्तर इसी श्लोक मे है—

भित्वा सद्य. किसलयपुटान् देवदारुद्रुमाणा,
ये तत्क्षीरस्रु तिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः।
आलिंग्यन्ते गुणवति मया ते तुपाराद्रिवाता.।
पूर्व स्पृष्ट यदि किल भवेदगमेभिस्तवेति ॥२।४४॥

हिमालय के ही एक प्रदेश मे वसी हुई अलका से जो पवन चलती है वह हिम-सीकर से अत्यन्त शीतल होनी चाहिए। हिमालय पर देवदारु के वृक्ष है, इसलिए उन जगलो मे होकर आनेवाली वायु निश्चय उस सुगन्ध से युक्त होगी, क्योकि पवन का नाम ही गन्धवाह है। देवदारु के वृक्ष हिमवत्प्रदेश के अतिरिक्त अन्यत्र नही होते, इसलिए देवदारु की सुगन्धि अकाट्य रीति से पवन के स्थान का निर्देश करती है। इस प्रकार घ्राण से भी इसके जानने मे सहायता मिलती है। वह पवन देवदारुओ के साथ सघर्ष करके आती है। उनके पर्णसपुट जो अभी नये ही है प्रात - काल पवन की सरल गति से खुलते है, फिर उनकी खण्डित त्वचा से जो दूध रिसता है उससे वायु सुगन्धित होती है। उस सुगन्धि को राम-गिरि तक लाने वाली पवन हिमालय से कुछ ही पूर्व चलती होगी, इससे मानो उसने वीच मे अन्य किसी का व्यवधान नही सहा, अर्थात् उस वायु का स्पर्श यक्ष की समझ मे उसे अछूता ही प्राप्त होता है।[1] (सद्य इत्यनेन अयातयामत्वात्स्पर्शस्य अनन्तरितत्व द्योत्यते पूर्ण सरस्वती)। यक्ष और यक्षिणी की समान वियोग-दशा और प्रेम का वर्णन यहाँ किया गया है। कालिदास को शाप-प्रवास वहुत प्रिय है। विक्रमोर्वशीय और शाकुन्तल मे भी उनके नाटक का आधार शाप ही है। शकुन्तला ऋषि के आश्रम में सवर्द्धित पवित्रता की मूर्ति है। उसको विधाता ने अक्षय यौवन की निधि सौपी है। इसलिए उस स्वर्गीय वाला पर सासारिक भावो का प्रहार होता है। शकुन्तला उससे परास्त हो जाती है। कवि

१—वाल्मीकि रामायण से इसी भाव का श्लोक टीकाकारो ने उद्धृत किया है—

वाहि वात यतः कांता तां स्पृष्ट्वा मामपि स्पृश।
त्वयि मे गात्रसंस्पर्शश्चन्द्रे दृष्टिसमागमः॥

का प्रयोजन इस घटना को घटित करने मे अत्यन्त उच्च है। वह शकुन्तला को ससार के लिए उपयोगी बनाना चाहता है। पर अध्यात्म-दृष्टि से वह ऋषि के आश्रम की इस बालिका के विद्रोह का मर्षण नही कर सकता। इसीलिए वह दुर्वासा रूप मे शाप का अवतार कराता है। उस तपश्चर्या से वह मानो शकुन्तला के पाप का प्रायश्चित कराकर उसे अध्यात्म और ससार दोनो की सौभाग्य-लक्ष्मी से सम्पन्नकर देता है। मेघदूत का यक्ष प्रेम के कारण भर्ता की शापरूपी प्रतारणा लेकर हमारे सामने आता है। इस अवस्था मे उसके द्वारा प्रेम की उत्कट मीमासा होती है। कष्ट सहन-रूपी साधना से अपने दोष का परिहार करके वह पुन उस प्रेम का अमृत-फल भोग सकने की योग्यता प्राप्त करता है। यदि यक्ष ने प्रेम न किया होता तो न उसको शाप ही होता और न उसका जीवन मानस-मेघदूत से रसवन्त और पवित्र बन पाता। अपनी सौन्दर्य-राशि से विश्लेषित सभी जन सदा उस स्थान पर अपने मन का मेघदूत भेजने की कल्पना किया करते है जहाँ उनके प्रेम की निधि है। जो अवस्था प्रेम की है वही आनन्द की है। जब चेतन-अचेतन के ज्ञान का लोप होकर हम सभी को चेतन जानने लगते है, तभी हम उपनिषद् मे प्रतिपादित प्रेम अथवा आनन्द के रहस्य को समझकर ईप्सित स्थान मे मनोदूत भेजने को विकल हो उठते है। वह रहस्य क्या है, न वा अरे पत्यु· कामाय पति प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पति· प्रियो भवति, न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति, अर्थात् पति की स्थूल देह या प्रियतमा की स्थूल देह के लिए पति और पत्नी प्रिय नही लगते, वे तो आत्मा के लिए प्रिय लगते है, क्योकि प्रेम और उससे जनित आनन्द का केन्द्र आत्मा है। उसके साथ शाप-वश हमारा वियोग हुआ है। उसके समीप अपनी जागी हुई चेतना के मनोदूत भेजने मे ही कल्याण है।

७

अलका और उज्जयिनी

अलकापुरी कैलास के उत्सग मे बसी हुई है। वहाँ राजराज कुबेर राज्य करते है। कुबेर के अनुचर यक्ष है जिनमे काम रस ओत-प्रोत भरा रहता है। समीप मे ही मानसरोवर है जहाँ कमल खिलते है। यक्षो के घरो मे अनन्त धन-राशियाँ है जिनके कारण वे आर्थिक चिन्ता मे मुक्त होकर विहार और निर्वेश को ही जीवन का लक्ष्य समझते है। ऐसी महा-समृद्धिमयी स्वर्गीय पुरी के एक घर मे प्रोपित यक्ष की गृहिणी है जिसके मद-विलुलित उपागों मे वह अपनी समस्त मुखाशाओ को पीछे छोड आया है।

स्वर्ग के इस छोर पर हमारे ससार मे श्रीविशाला उज्जयिनीपुरी है। अलका के उच्च धामो तक जिनकी गति नही है, वे इस विशालापुरी के ही सौधो मे विलास कर सकते है। अलका (स्मृत्युपलब्ध) अनुमानगम्य है, उज्जयिनी प्रत्यक्ष का विषय है। यद्यपि हम अध्यात्म की तरग के आवेश मे उत्तर मार्ग पर बहे जाते है और आशा रखते है कि किसी दिन उत्तम ज्योति अलका के दर्शन करेंगे, पर अध्रुव के निषेपण मे प्रत्यक्ष ध्रुव वस्तु को छोड जाना कहाँ की बुद्धिमत्ता है। जो वैभव अलका मे है, उसी का प्रतिबिम्ब किसी-न-किसी रूप मे अवन्ती मे भी पाया जाता है। कालिदास ने अपने वर्णनो से ही यह बात प्रमाणित कर दी है कि सचमुच उज्जयिनी स्वर्ग का ही एक कान्तिमत् टुकड़ा है—

स्वल्पीभूते सुचरित फले स्वर्गिणा गा गताना।
शेपैः पुण्यैर्हृतमिव दिव कान्तिमत्खंडमेकम्॥१।३०॥

अर्थात्, जब स्वर्ग मे बसने वाले जीवो को अपने पुण्यफलो का उप-भोग कर चुकने पर पृथिवी पर आना पडा तब उन्होने सोचा कि लाओ

अपने बचे हुए सुकर्मों का पावना चुकता करने के लिए स्वर्ग का ही एक टुकड़ा तोड़कर साथ लेते चले। वही कान्तिमत् खंड सम्पत्तिशाली उज्जयिनीपुरी है।

अलका मे मेघ, विद्युत्, पूर्णचन्द्र, गन्धवाही पवन, खग, मृग, उपवन, वसन्त, बावडी, ललित वनितादि अनेक उद्दीपन-सामग्री है। अवन्ती यद्यपि सर्वांश मे अलका की तुलना नही कर सकती तथापि वहाँ भी जीवन-विहार के अमित साधन प्रस्तुत है। अवन्ती मे ऊँचे-ऊँचे महल है; (सौधोत्सग १।२७)। वहाँ के हर्म्यों मे कुसुम-धूलि उडती है; उसके भवनो की वलभियो मे रात्रि को पारावत शान्ति से सोते है। अलका के प्रसाद भी सप्तभूमिक है (उच्चैर्विमाना १।६३), उनके अग्रशिखर आकाश को चूमने वाले है (अभ्रलिहाग्रा:२।१)। उज्जयिनी के सदनो में ललित-वनिताओ के अलक्तक-राग से अकित पद-चिन्ह ऐसे शोभित होते है, मानो उनमे सद्मो की गृहलक्ष्मी ही साक्षात् झिलमिलाती हो (१।३२)। अलका के देवगृहो मे भी सुखलक्ष्मी सुभग-वनिताओ के रूप मे निवास करती है (२।१)। उज्जयिनी की रमणियाँ अपने चचल लोचनो से विद्युत की चमक के सदृश चितवन चलाती है (१।२७), अलका मे शिव का वास समीप जानकर कामदेव अपना चाप चढाने से डरता है। वहाँ चतुर वनिताओ के भ्रू विलास और तिरछे कटाक्ष-रूपी अमोघास्त्रो से ही कामीजन चूर-चूर हो जाते है। स्वय काम भी एक बार जिसे देखकर ठिठक जाता है, चटुल स्त्रियाँ उसी लक्ष्य को कुशल धानुष्क की तरह अपाग बाणो से ढहा देती है। अलका मे ऐसी ही कुशाग्र कामिनियो का वास है। उनको विभ्रम की शिक्षा देने वाला[1] रतिफल नामक मधु है जो कि कल्पवृक्ष से चुआकर बनाया जाता है (मधुनयनयोर्विभ्रमादेशदक्ष, २।११, आसेवन्ते मधु रतिफल कल्पवृक्ष-प्रसूत। २।३) जिस समय वाद्यभाडो की मन्द-मन्द हुडुक् ध्वनि आहत होती है, उस समय स्फटिक शिलाओ से निर्मित हर्म्यस्थलो पर बैठे हुए यक्ष वरवर्णिनी स्त्रियो के साथ आपानभूमि का विलास लूटते है। जो

१—वियोग में इसी मधु-पान के छूट जाने से यक्ष अनुमान करता है कि यक्षिणी अपना भ्रू विलास भूल गई होगी—प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रू विलासम् (२।३२)।

कभी क्षय को प्राप्त नहीं होती ऐसी निधियाँ जिनके घरों में हैं, वे कामी यक्ष वारांगनाओं को साथ ले कुबेर के वैभ्राज नामक उपवन में विहार करते हैं (२।८)। अलका धनपति की नगरी है। वहाँ की पहली विशेषता चरमकोटि का अर्थस्वातन्त्र्य है। उस पुरी का नाम ही वस्वौकसारा[1] है, अर्थात् जिसके भवनों में वसु भरे हुए हैं। जगत् की संस्कृति के पनपने का एक बड़ा रहस्य अक्षय्यान्तर्भवननिधि शब्द में है। इस लोक के समस्त काम तब ही होते हैं जब कि मनुष्य धनोपार्जन की चिन्ता से मुक्त हो। संस्कृत में एक कहावत है—सर्वारम्भास्तण्डुलप्रस्थमूलाः, अर्थात्, भारी-भारी समारम्भ बाँधने की सूझ तभी होती है जब मनुष्य के पल्ले में पाव-भर चावल बँधे हों। इसी को कुछ लोग यों कहते हैं कि मनुष्य जाति बुद्धि के बल नहीं चलती, बल्कि पेट के बल रेंगती है। प्राचीन यूनान ने क्रीतदासों को अपने लिए धनोपार्जन का काम सौंपकर आर्थिक चिन्ता से मुक्ति पाई थी और इस प्रकार उन्हें जो विपुल अवकाश मिला उसका उपयोग उन्होंने कला-साहित्य के संवर्धन में किया। प्राचीन भारतवर्ष के इतिहास में ब्राह्मणों ने यह स्वतन्त्रता अपने त्याग और तपोबल से प्राप्त की, धनार्जन की वृत्ति को ही उन्होंने ब्राह्मण के कर्मों से निकाल दिया। यदि वह सामाजिक व्यवस्था यहाँ न होती तो जीवनपर्यन्त अल्प लाभ से ही सन्तुष्ट रहकर विद्या और कला की उपासना करने वाले विद्वानों का अस्तित्व हमें अपने यहाँ देखने को न मिलता। अस्तु, अलका में हमें काम-प्रधान जीवन की कल्पना करनी है, उसके लिए अर्थ नामक पुरुषार्थ से वहाँ के यक्षों को छुट्टी मिलनी चाहिए। इससे कवि ने कहा है—

अक्षय्यान्तर्भवननिधयः······कामिनो निर्विशन्ति ॥२।८॥

अर्थात्, जिनका क्षीण होना असम्भव है ऐसी निधियाँ वहाँ संचित हैं। इसी पर मल्लिनाथ ने बहुत उपयुक्त लिखा है—

१—वस्वौकसारा, वसुधारा, वसुमारा, वसुसारा ये नाम भी हैं [वसु (धन)+ओकस् (घर)+आङ्+रा (आदान)] प्रासादा यत्र सौवर्णा वसोर्धारा च यत्र सा। गन्धर्वाप्सरसो यत्र तत्र यान्ति सहस्रदाः॥ कुमारसम्भव में कालिदास ने अलका को 'वसति वसुसंपदां' कहा है (६।३७)।

यथेच्छाभोगसभावनार्थमिद विशेषणम् ।

अलका अनन्त सम्पत्ति की पुरी है, फिर भी उसमे कल्पवृक्ष है। ऐसे देश के वासी जहाँ अमरता नित्य निवास करती है, जहाँ नवो निधियो का कोई पूछने वाला नही, कल्पवृक्ष से किस सुख और अभ्युदय की कामना करने जायँ ? कवि की कल्पना के लिए भी यह परीक्षा का स्थान है कि वह अलका-सदृश्श निज-निर्मित लोक मे कल्पवृक्ष से क्या काम ले । अन्तत उसने कल्पवृक्ष के लिए एक उपयोग ढूंढा—

एक सूते सकलमबला मडन कल्पवृक्ष· ।

अर्थात्, अलका मे एक कल्पवृक्ष ही अवलाओ के प्रसाधन की समस्त सामग्री पूरी कर देता है। अमर सौन्दर्य के देश मे स्त्रियो को कोई कामना होती है तो वह केवल मडन-सामग्री की । जैसा मडन वे चाहती है, कल्पवृक्ष उन्हे दे देता है। यही कल्पतर की सार्थकता है। कामिनियो को सुभगकरण के लिए अन्यत्र नही जाना पडना । देववृक्ष उनके सौन्दर्य की वृद्धि के लिए अपना शरीर तक समर्पण कर देता है ।

अलका और उज्जयिनी की और भी अनेक समानताएँ है। उज्जयिनी की अभिसारिकाओ का वर्णन पहले हो चुका है । घनी अँधेरी मे बिजली चमकाकर मेघ उनको मार्ग दिखाता है। वे योपिताएँ अत्यन्त डरपोक है, बिजली की कडक और बादल की गरज से वे सहम जाती है। अलका की कामिनियाँ रात्रि को अभिसार करते समय बडे वेग से चलती है, शीघ्रता मे उनके पैर डगमग पडते है, इस कारण उनके कानो मे खोसे हुए सुवर्ण-कमल खिसक पडते है, कही केशपाश मे गूँथे हुए मन्दार पुष्प और मौक्तिक जाल गिर जाते है, कही किसी के उरोजो की ठेस से टूटा हुआ हार गिर पडा है, तो कही किसी का कर्णफूल या कानो का पत्ता ही गिर गया है. ये चिह्न प्रात काल के समय अभिसारिकाओ के मार्ग की सूचना देते है। अलका मे अप्सरारूपी पण्य स्त्रियाँ है जो अनेक देवयोनियो से सम्मान पाती है। उज्जयिनी मे भी उनके समकक्ष गणिकाएँ है जो क्वणियोत पाद-ध्वनि से महाकाल के मन्दिर मे चामर-नृत्य करती है ।

पशुपति की पूजा का विधान दोनो जगह समान है। उज्जयिनी मे सायकाल आरती के समय नित्य ढोल बजाए जाते है, अलका मे सगीत के लिए मुरजो की ध्वनि होती है। अलका मे वे सुन्दरी बालाएँ जिनके

लिए देव भी ललचाते है सुवर्ण की वालू मे मणि लुकाकर गुप्तमणि नामक खेल खेलती है। कुमारियो की लीला के इस चारु विक्रीडन मे कितना उद्दीपन हे इसे भ्रमरगण ही जानते है। उज्जयिनी मे युवतियाँ गन्धवती के नीर मे जलक्रीडा करती है। उनके अगराग की सुगन्धि से कपायित पवन कमलो का आमोद ग्रहण करती हुई महाकाल के मन्दिर की ओर जाकर उसके सहन मे लगे हुए उद्यानो को झकझोरती है। गुप्तमणिरूप दैशिक क्रीडा और युवती-जल-क्रीड़ा मे निस्सन्देह इस लोक मे रहने वाले जलक्रीडा को ही देखने के लिए अधिक लालायित होगे।

अलका मे सुरत-खिन्न अवलाओ की श्रान्ति हरने की सामग्री चन्द्र-कान्त मणियाँ है। रात्रि के समय जव पूर्ण चन्द्र तन्तुजालो से छत मे लटकाई हुई मणियो को अपनी किरणो से छूते है तव वे द्रवित होकर रस-स्रवण करने लगती हैं। जो स्त्रियाँ प्रियतम के निधुवन से निष्प्राणता रूप ग्लानि का अनुभव कर रही हे, उनके उस अनुत्साह को दूर करने वाली चन्द्रकान्त मणियाँ है। कला, सम्पत्ति और शृगार का अत्यन्त विलक्षण समवाय उन भवनो मे है। उज्जयिनी मे भी रमणियो को इस अनुत्साह रूप अनुभाव की वाधा होती है, पर उनके लिए कवि ने एक प्राकृतिक उद्दीपन की कल्पना की है। प्रात काल खिलने वाले कमलो मे सुगन्धित होकर जो शिप्रा की हवा चलती है, वही रतिश्रान्त कामिनियो की ग्लानि हरती है।

अलका और उज्जयिनी दोनो जगह भवनो मे गवाक्ष है। उज्जयिनी मे इन जाल-मार्गो मे स्त्रियो का केश सस्कार धूप निकलता है; वही ऊँचे चढकर मेघ के गात्र को पुष्ट करता है। इस प्रकार जो काम अभि-लाषाएँ केशो को सुवासित करने वाली नारियो के हृदयो मे होती है वे ही धूप रूप मे काम-पुरुष मेघ के समीप जाती है। मेघ यदि स्त्रियो के साथ यह उपकार करता है कि उसके सन्नद्ध होने पर पथिक जन अपनी प्रियाओ से मिल जाते है, तो वे पतिसयुक्त युवतियाँ भी उसके उपकार का वदला किसी-न-किसी रूप मे चुका देती हे। मेघ उनके शरीर की रक्षा करता है, वे मेघ के वपु को उपचित करती है। अलका मे भी जाल-मार्गो से धुआँ निकलता है, और वह भी मेघो की ही रक्षा करने के काम मे आता है। पहाड पर मेघ घरो मे घुसकर वहाँ की वस्तुओ को भिगो देते है, यह साधारण वात है। अलका मे भी वे भवनो मे घुस-

कर वहाँ की भीतो पर खिची हुई चित्रकारी को बिगाड़ देते है। इस अपराध से डरे हुए मेघ भागना चाहते है, उनको रास्ता मिलता है जाल-मार्गो से। पर अपराधी सूरत छिपाकर भागना चाहता है जिससे कोई उसे जान न पावे। धुआँ इसमे मेघो की सहायता करता है। वे जर्जर होकर धुएँ की तरह ही गवाक्षो से निकलते है मानो धूम के भ्रम से लोग उन्हे नही पहचान पाते।

अलका मे घर-घर मोर पले हुए है जिन्हे गृहस्वामिनी स्त्रियाँ नचाती है, उज्जयिनी के भवनो के नीलकण्ठो को वर्षा का सदेशवाही मेघ नचाने वाला है। अलका का ही सुरम्य सस्करण अवन्ती है। जो लोग अलका के लिए प्रस्थान कर चुके है उन्होने उत्तर दिशा पकडी है। वे चित्रकूट से उठकर कैलास के उत्सग मे बसी हुई अलका को अपना मनोदूत भेजते है। यह परमश्रेयस्कर लक्ष्य है। पर कवि की वाणी की ध्वनि यह भी है कि अलका के इस ओर की उज्जयिनी हाथ मे आया हुआ प्रत्यक्ष स्वर्ग है।

८

शिव का स्वरूप

पंडितों की दृष्टि में मेघदूत-काव्य का संदर्भ कुछ भी हो, स्वयं कालिदास ने मेघदूत में बड़े कौशल से शिव के स्वरूप का सन्निवेश कर दिया है। उज्जयिनी में महाकाल शिव के पुण्यधाम का वर्णन है। शिव के गणों का, उनके नीलकंठ गुण का, शिवजी के नृत्य का तथा उनके आरम्भ में गजासुर की कृत्ति के परिधान का उल्लेख है (मे० १।८०)। शंकर को शूली कहकर उनके त्रिशूल की ओर भी संकेत है। चंडी, भवानी और गौरी के नाम भी हैं। शिवजी के अट्टहास का (मे० १।६२), उनकी जटाओं में कल्लोल करती हुई जह्नु-तनया का तथा पार्वती के साथ गंगा के सपत्नी-भाव का भी वर्णन है (मे० १।५८)। शम्भु के भुजंगों का, पार्वती के साथ उनके विहार का, (मे० १।६४), कुबेर के साथ उनकी मैत्री का, किन्नरियों-द्वारा उनके यशोगान का, त्रिपुर की विजय का एवं उनके वृषभ का भी वर्णन है। शिवजी त्रिनयन हैं (मे० १।५६), उनके ललाट पर द्वितीया के चन्द्रमा की कला है (मे० १।४८), मदन का वे दहन कर चुके हैं, इसलिए जहाँ शिव का निवास है वहाँ कामदेव जाने से डरता है। देवांगनाओं द्वारा दर्पण के समान काम में आने वाले रजतगिरि कैलास के उत्संग में तो अलकापुरी ही बसी हुई है। शिवजी पशुपति हैं (मे० १।६०), उनके चरणन्यास की परिक्रमा और दर्शन करके श्रद्धालु जन स्थिर पद अर्थात् अनावृत्तिभय मोक्ष (कुमार सं० ६।७७) पाने में समर्थ होते हैं जो शिव के प्रथम आदि गणों का स्थान है (मे० १।५६)।

स्वामिकार्तिकेय और उनके जन्म का भी उल्लेख कवि ने किया है। कार्तिकेय स्कंद क्या है? शिवजी का जो सूर्य से भी अधिक प्रभावशाली तेज है वही अग्नि के मुख में संचित होकर कुमार के रूप में प्रकट हुआ

है (अत्यादित्य हुतवहमुखे सभृत तद्धि तेज, मे० १।४७) । कुमार का निवास स्थान देवगिरि है, मेघ को वहाँ जाकर पुष्पाकार जलविन्दु बरसाने का आदेश है, क्योंकि स्कन्द का जन्म देवासुर-सग्राम मे देवसेना की रक्षा के लिए हुआ था, इसलिए वे पूजा की अजलि के अधिकारी है। कालिदास ने स्कद के मयूर का भी स्मरण किया है। पुत्र के अतिशय प्रेम के कारण भवानी पार्वती कुमार के वाहन मयूर के गिरे हुए पख को कान का अलकार बनाकर पहनती है। उस मयूर को नृत्य द्वारा आनन्दित करने का भी मेघ को परामर्श है। इस प्रकार अनेक प्रकार से वृषराज-केतन शिव के स्वरूप का निर्देश कालिदास ने मेघदूत मे किया है। इस स्वरूप पर विस्तृत विचार करने की आवश्यकता है।

कवि के अनुसार मेघ कामरूप पुरुष है और हर ने अपने कोपानल से काम को भस्म कर दिया था, इसलिए भी शिव और वृपात्मक मेघ का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वस्तुत कालिदास का सम्पूर्ण दार्शनिक विज्ञान शिव के स्वरूप के पीछे छिपा हुआ है। शिव, पार्वती और कुमार कौन है, इस पर सूक्ष्म विचार कर लेने से हम केवल कालिदास के ही नही, वरन् अन्य भारतीय साहित्य के सिद्धान्तो को भी सहानुभूति के साथ समझ सकेगे। कालिदास उत्कृष्ट कोटि के अद्वैतवाद को मानने वाले थे। वेदान्त-प्रतिपादित ब्रह्म को ही वे शिव कहते है। ब्रह्म की शिव सज्ञा वेदो मे भी कई स्थलो पर आई है—

नम शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शकराय च
मयस्कराय च नम शिवाय च शिवतराय च ॥

—यजु १६।४१॥

यहाँ शिव के शम्भु, शकर, मयस्कर, मयोभव नाम आए है। कालिदास ने शिव की अखड सत्ता का बराबर गुणगान किया है। जो ब्रह्म सब लोको का अधिष्ठाता है, जिसकी आत्मशक्ति अपने गुणो से युक्त होकर प्रकृति की रचना और उसके विसर्जन का कार्य करती रहती है, वही अव्ययात्मा, अज, स्वयम्भू, अष्टमूर्ति (रघुवश २।३५) भूतपति महेश है। जिन अष्ट स्वरूपो की स्तुति कालिदास ने शकुन्तला के मगल-श्लोक मे की है वे गीता मे भी है—

भूमिरापोऽनलो वायु' ख मनो बुद्धिरेव च।
अहकार इतीय मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ७।४ ॥

अर्थात्, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार, इन आठ रूपों में मेरी प्रकृति विभाजित है। कवि ने स्वयम्भू, विष्णु और शिव, इस त्रिमूर्ति के अद्वैत भाव का भी प्रतिपादन किया है। ब्रह्म का वर्णन करते समय उन्होंने स्पष्ट कहा है कि वे शिव, ब्रह्मा और विष्णु में कोई भेद नहीं मानते (कुमारसंभव २।४)।

कालिदास के दार्शनिक मत में एक अखंड शुद्ध अद्वैत ब्रह्म ही परम तत्त्व है। उनकी त्रिदेव स्तुतियाँ उपनिषदों के समान ब्रह्म का सरस और निर्भीक प्रतिपादन करने वाली हैं। रघुवंश के दशम सर्ग में (१६ से ३२ तक) क्षीरसागर-स्थित अवाङ् मनस-गोचर शेषासीन विष्णु भगवान् को प्रणाम करके देवलोक उनकी स्तुति करते हैं।

शिव, विष्णु और ब्रह्मा के जो पृथक्-पृथक् वर्णन कालिदास ने किये हैं उनमें भी अन्योन्य-संक्रमित भाव और पद हैं। शिव का अद्वैत स्वरूप कुमारसंभव के अनेक श्लोकों में आया है—

कल्पितान्योन्यसामर्थ्यैः पृथिव्यादिभिरात्मभिः।
येनेदं ध्रियते विश्वं धुर्यैर्यानमिवाध्वनि ॥ कुमारसंभव, ६।७६॥

शिव विश्वगुरु (कु० ६।८३), विश्वात्म (कु० ६।८८), त्रैलोक्य-वन्द्य (कु० ७।५४) और तमोविकार से अनपहत (कु० ७।४८) है। वह शिव किसी की स्तुति नहीं करता, उसकी सब स्तुति करते हैं, वह किसी की वन्दना नहीं करता, उसकी सब वन्दना करते हैं (कु० ६।८३), वह जगत् का अध्यक्ष और मनोरथों का अविषय है (कु० ६।१७)। वाणी, मन और बुद्धि की वहाँ पहुँच नहीं है, उसको तत्त्वतः कौन जान सकता है?

किं येन सृजसि व्यक्तमुत येन बिभर्षि तत्।
अथ विश्वस्य संहर्ता भागः कतम एष ते ॥ कु० सं० ६।२२॥

ब्रह्म के अद्वैत का प्रतिपादन करके कालिदास आगे बढ़ते हैं। जो अनंत पुरुष लोक-लोकान्तरों का अधिष्ठाता है, वही हमारे आत्म-तत्त्व में प्रतिष्ठित है। गीता में जिसे अक्षर कहा है (अक्षरं परमं ब्रह्म, गी० ८।३) उसमें और हृदय-देश में स्थित आत्मेश्वर में कोई भेद नहीं है। गीता का क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार कालिदास को मान्य है—

इदं शरीर कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहु क्षेत्रज्ञ इति तद्विद' ॥
—गीता, १३।१ ॥
क्षेत्रज्ञ चापि मा विद्धि सर्व क्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोर्ज्ञान यत्तज्ञान मत मम ॥ २ ॥

हे अर्जुन ! इसी शरीर को क्षेत्र कहते है । इस क्षेत्र को जो जानता है उसे इस शास्त्र को जाननेवाले क्षेत्रज्ञ कहते है । हे भारत ! सब क्षेत्रो मे क्षेत्रज्ञ मुझे ही समझो । क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है वही मेरा ज्ञान माना गया है । इस प्रकार गीता के अक्षर, क्षेत्रज्ञ, तद्विद् आदि शब्द कालिदास ने ले लिये है—

यमक्षर क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मान्यवलोकयन्तम् ।
कुमार० ३।५०॥
योगिनो य विचिन्वन्ति क्षेत्राभ्यन्तरवर्त्तिनम् ।
अनावृत्तिभय यस्य पदमाहुर्मनीपिणा ॥
कुमार०, ६।७७॥

कालिदास ने उमी योगसाधना-मार्ग का वर्णन किया है जिसका प्रतिपादन गीता मे है—

'योगाभ्यासी पुरुप ऐसे शुद्ध आसन पर अपना स्थिर आसन लगाए जो न बहुत ऊंचा हो न नीचा । उस पर पहले दर्भ और फिर मृगछाला और वस्त्र बिछाए । वहाँ चित्त और इन्दियो का व्यापार रोककर तथा मन को एकाग्र करके आत्मशुद्धि के लिए आसन पर बैठकर योग का अभ्यास करे ।

कार्य अर्थात् पीठ, मस्तक और ग्रीवा को सम करके स्थिर होता हुआ, दिशाओ को न देखे और नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि जमावे । वायुरहित स्थान मे रखे हुए दीपक की ज्योति जैसे निश्चल होती है, वही उपमा चित्त को सयत करके योगाभ्यास करने वाले योगी की होती है । योगानुष्ठान से निरुद्ध हुआ चित्त स्वय आत्मा को देखकर आत्मा मे ही सन्तुष्ट हो रहता है ।

इसकी तुलना कुमारसभव (३।४४-५०) से करनी चाहिए—

स देवदारुद्रुमवेदिकाया शार्दूलचर्मव्यवधानवत्याम् ।
आसीनमासन्नशरीरपातस्त्रियम्बक सयमिनं ददर्श ॥

पर्यंकबन्धस्थिरपूर्वकायमृज्वायतं सन्नमितोभयांसम् ।
उत्तानपाणिद्वयसन्निवेशात् प्रफुल्लराजीवमिवाकमध्ये ॥
भुजंगमोन्नद्धजटाकलाप कर्णावसक्त द्विगुणाक्षसूत्रम् ।
कंठप्रभा-सग-विशेषनीलां कृष्णत्वचं ग्रथिमती दधानम् ॥
किंचित्प्रकाशस्तिमितोग्रतारैर्भ्रू विक्रियाया विरतप्रसगैः ।
नेत्रैरविस्पन्दितपक्ष्ममालैर्लक्ष्यीकृतघ्राणमधोमयूखैः ॥
अवृष्टिसरम्भमिवाम्बुवाहमपामिवाधारमनुत्तरंगम् ।
अन्तश्चराणा मरुतां निरोधान्निर्वातनिष्कम्पमिव प्रदीपम् ॥
कपालनेत्रान्तरलब्धमार्गैर्ज्योतिः प्ररोहैरुदितैः शिरस्त ।
मृणालसूत्राधिकसौकुमार्यां बालस्य लक्ष्मी ग्लपयतमिदोः ॥
मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम् ।
यमक्षर क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् ॥

"आसन्न-मृत्यु काम ने देवदारुओ के अधोभाग मे बनी हुई वेदी पर बाघम्बर बिछाकर बैठे हुए समाधिनिष्ठ शिव को देखा। वे वीरासन से शरीर के ऊर्ध्व भाग को निश्चल करके मेरुदण्ड सीधा ताने हुए थे। उनके दोनो स्कन्द-प्रदेश कुछ आगे को झुके हुए थे। हथेली के ऊपर रखी हुई हथेली को प्रफुल्ल कमल के समान अक मे धारण किये हुए थे। भुजगों से लिपटी हुई जटाओवाले, कानो से लटकती हुई दुहरी रुद्राक्ष मालाओ वाले, नीलकण्ठ की प्रभा के मिलने से विवृद्ध कान्तिवाली कृष्ण मृगछाला गले मे गाँठ लगाकर पहने हुए शकरजी, नीचे छूटती हुई प्रकाश की किरणोवाले उन नेत्रो से नासिका के अग्रभाग को देख रहे थे, जिन मन्द प्रकाश से युक्त नेत्रो की उग्र पुतलियाँ निश्चल थी, जो भ्रू विक्षेप मे अनासक्त थे, तथा जिनका निमेषोन्मेष कार्य भी बन्द था। वृष्टि-सक्षोभ से रहित मेघ के समान तथा तरगरहित ताल के समान प्राणापानादि शरीरस्थ वायुओ का निरोध करके वे निष्कम्प प्रदीप की भाँति स्थित थे। कपालस्थ तृतीय नेत्र के भीतर से बाहर निकलती हुई तेज की किरणे कमल से भी अधिक कोमल इन्दु की कान्ति को फीकी कर रही थी। इस प्रकार प्रणिधान से वश मे किये हुए मन को समस्त इन्द्रियो की वृत्तियो से हटाकर, हृदय-देश मे अधिष्ठित करके उस परमात्म-तत्त्व को

आत्मा मे ही प्रत्यक्ष कर रहे थे, जिसे क्षेत्रविद् लोग कूटस्थ[1] ब्रह्म कहते है।

शिव, विष्णु और ब्रह्मा का अद्वैतभाव, शिव और कूटस्थ आत्मा का तादात्म्य और योग-द्वारा उस अक्षर ब्रह्म का साक्षात्कार ही कालिदास का दार्शनिक मत है।

शिव के द्वारा मदन-दहन का रहस्य

शिव जिस समय आत्म-प्रत्यक्ष करना चाहते है, उस समय काम उनके मार्ग मे विघ्न करता है। उस काम को वे अपने वश मे करते है। वोधिलाभ करने से पूर्व भगवान् वुद्धि को भी मार-विजय करनी पडी थी। काम और शिव का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। काम की सज्ञा वृप है; वृष नाम मेघ का है। मेघ ही वृषा इन्द्र का कामरूप पुरुप है, अर्थात् वृप, काम और मेघ एक ही तत्त्व के नामान्तर है। जिस मेघ को दूत कल्पित करके यक्ष अपने कामोद्गारो का प्रकाश करता है, उसको वारम्वार परामर्श है कि वह शिव को प्रसन्न करे, भक्ति से नम्र होकर हरचरणन्यास की परिक्रमा करे, तथा अपना स्निग्ध गम्भीर घोप, पशुपति के सगीत-साज के काम मे लावे। काम का निग्रह करनेवाले शिव, काम से किस प्रकार प्रसन्न हो सकते है, इसका उत्तर शिव-पार्वती का विवाह है। पार्वती सुषुम्णा नाड़ी का नाम है। मेरुदण्ड हिमालय है, इसी के भीतर सुषुम्णा है। इस मेरुदण्ड मे छ. चक्र और तैतीस पर्व या अस्थिपोर है। ये पोर एक-दूसरे से सटे रहते है। मेरु ही पर्वत है (पर्वाणि सन्त्यस्य)। उस पर्वत के भीतर रहनेवाली सुषुम्णा पर्वतराज की पुत्री पार्वती है। अस्थि-पोरो के भीतर एक छिद्र है, पर्वो के परस्पर मिलने से वह रन्ध्र दीर्घ-नलिकाकार हो जाता है। इसी के भीतर सुषुम्णा नाड़ी है। यह नाड़ी मस्तिष्क से होती हुई पृष्ठ-वश मे अनुस्यूत होकर सबसे नीचे के मूलाधार चक्र तक आ जाती है। पर्वास्थि के भीतर पहले श्वेत, फिर विभूति वर्ण का भूरा मज्जामय पदार्थ भरा रहता है जो मस्तिष्क के कोषो मे भी पाया जाता है। इसी चित्रासज्ञक सुपुम्णा के

१—द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः व। [illegible] स्थोऽक्षर उच्यते।। गी० १५।१६।।

भीतर एक सूक्ष्म विवर है जो नीचे से ऊपर तक आयत रहता है। सुषुम्णा के बाईं ओर इडा और दक्षिण ओर पिंगला नाम की नाड़ियाँ हैं जो सुषुम्णा से सम्बद्ध रहती है और सहस्र जाल से फैलती हुई अन्त मे कपालस्थ आज्ञाचक्र मे सुषुम्णा से मिल जाती है। ये नाडियाँ सब प्राण की वाहिका है और प्राण ही जीवन-तत्त्व है।

भौतिक पक्ष मे इस प्राण के आधार ये सब नाड़ी-जाल और षट् चक्र है। नाड़ियो की सूक्ष्मता की कोई सीमा नही है। उनकी सख्या योग-शास्त्र के अनुसार बहत्तर करोड़ है। वस्तुत आधुनिक शरीर-शास्त्री के लिए भी समस्त नाडी-सख्या का निर्धारण कठिन है। इन सबमे मुख्य सुषुम्णा ही है। स्थूल शरीर-विज्ञान जीवन-तत्त्व के भौतिक आधार का ही परिचय पा सका है, उसका भोगायतन (फिजियोलोजिकल) रूप प्रयोग-साध्य है। परन्तु योग-विद्या मानसिक पक्ष मे भी प्राण की गति का निर्देश और सूक्ष्म परिचय कराती है। इसीलिए भौतिक प्रयोग से जिस वस्तु का ज्ञान नही हो पाता, ध्यान मे उन्ही शारीरिक रहस्यो का मानसिक क्रियाओ के साथ प्रत्यक्ष हो जाता है। तन्त्र-ग्रन्थो मे इसके दो प्रकार से वर्णन मिलते है। कही तो भोगायतन-पक्ष मे शरीर सघटन मे जीवन-तत्त्व का अधिष्ठान समझाने के लिए सुषुम्णा आदि सज्ञाओ से काम लिया जाता है और कही उस वर्णन को आध्यात्मिक स्वरूप देकर शिव, पार्वती, कुमार, प्रमथ आदि सज्ञाएँ कल्पित करके योग-प्रत्यक्ष को शब्दो द्वारा प्रकट किया जाता है। षट् चक्रो का स्थान और क्रम इस प्रकार है—

१. मूलाधार (कौक्सीजियल रीजन)—इसका सयोग गुदा से है। इसमे चार पर्व (वर्टिब्री) है जो ऊपर के पर्वो की अपेक्षा छोटे और अपूर्ण दशा मे है। ये चारो पृथक्-पृथक् स्फुट स्वरूप के न होकर एक गा अस्थि-से प्रतीत होते है जिसे अग्रेजी मे कौक्सिक्स कहते है। कीक अस्थि भी यही ज्ञात होती है। कुण्डलिनी शक्ति यही निवास करती है। शिव-पार्वती के विवाह मे कुण्डलिनी को जगाकर ही ब्रह्माण्ड या मस्तिष्क मे ले जाते है। इसी को योग की परिभाषा मे सर्पिणी कहते है क्योकि यह सर्पिणी की भाँति कुण्डल मारकर सोई रहती है। मूलाधार में पृथ्वी तत्त्व का स्थान है।

२. स्वाधिष्ठान (सेक्रल रीजन)—इसका अधिष्ठान लिंग मे है।

इसमे पाँच पर्व है। ये पाँचों भी एक ही अस्थि में जुड़े रहते है जिसे अंग्रेजी में सेक्रम कहते है। इन्हीं दोनों अस्थियो के नौ पर्वो को निकाल-कर आधुनिक शरीर-शास्त्री मेरुदण्ड मे २४ अस्थिपोरो की गणना करते है। पर भारतीयों ने इस शक्ति को तैंतीस पर्वो से ही युक्त माना है। स्वाधिष्ठान-चक्र मे जल-तत्त्व का अधिष्ठान है।

३. मणिपूर (लम्बर रीजन)—इसका स्थान नाभि है और मेरु-दण्ड के इस भाग मे पाँच पर्व है। तेज इसका तत्त्व है। इन तीन चक्रों का भेद कर लेने पर योगी विराट् भाव से युक्त हो जाता है; उसकी मोह-निद्रा टूट जाती है।

४. अनाहत (डोर्सल रीजन)—मेरुदण्ड मे बारह पर्वोवाला यह चक्र हृदय मे स्थित है। यहाँ वायु-तत्त्व का स्थान है।

५. विशुद्धि-चक्र (सर्विकल रीजन)। इसमे सात पर्व है और यह ग्रीवा मे स्थित है। यही से आकाशगुणक शब्द का जन्म होता है। इसका भेद करने पर योगी को आकाश तत्त्व पर विजय प्राप्त हो जाती है।

६. आज्ञाचक्र—मस्तिष्क प्रदेश के भ्रूमध्य या त्रिकुटी मे योगी इसका स्थान मानते है। यहाँ सुषुम्णा का अन्त हो जाता है। यहाँ मन, बुद्धि और अहकार का निवास है। इसी स्थान पर ज्ञानचक्षु है जो तृतीय नेत्र है। यही शिव का वास है।

जब योगी पाँच चक्रो को सिद्ध कर लेता है, तब उसे काम-बाधा नही सता सकती। शिव के लिए कालिदास ने कहा है—'अरूपहार्य मदनस्य निग्रहात्', अर्थात् मदन के निग्रह के कारण रूप या सौन्दर्य उनके चित्त को नही हर सकता। पहले शिव ने मदन को भस्म कर डाला है (भस्मावशेष मदनं चकार), तभी वे पार्वती के साथ विवाह करके षडानन कुमार को जन्म देते है। आज्ञा-चक्र से ऊपर सहस्रदल कमल (सेरेब्रल रीजन) है जहाँ पर साक्षात् शिव निवास करते है।

कुमार का जन्म शिव के स्कन्दित तेज से होता है। यह तेज पार्वती रूपी सुषुम्णा मे[1] निक्षिप्त होकर क्रमशः छओ[2] चक्रो के द्वारा पुष्ट और

१—सुसुम्न। सुम्न=आनन्द। षुञ् अभिषवे धातु से सुम्न बनता है। षट्चक्र भेद के पश्चात् स्कन्द जन्म लेता है। लोक में स्कन्द का सम्बन्ध छः की सख्या से है—षडानन, स्कन्द-षष्ठी। आज्ञाचक्र का जो चित्र श्री आर्थर एवेलन ने दिया है उसमें कुमार षडानन

लालित होता हुआ स्कन्द को जन्म देता है जो इसी कारण छ. माताओ के पुत्र या षाण्मातुर कहे गए है। कालिदास ने मेघदूत मे स्कन्द के जन्म का रहस्य सूत्र रूप मे लिख दिया है—

तत्र स्कन्द नियतवसति पुष्पमेघीकृतात्मा
पुष्पासारै; स्नपयतु भवान्व्योमगगाजलार्द्रै· ।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीना चमूना-
मत्यादित्य हुतवहमुखे सभृत तद्धि तेज ॥ १।४७ ॥

वहाँ देवगिरि पर बसनेवाले कुमार को अपना अभ्र-पुष्पात्मक रूप बनाकर आकाशगगा से सींची हुई पुष्पवृष्टि से स्नान कराना। देव सेना की रक्षा के हेतु पावक के मुख मे सचित सूर्य से भी अधिक प्रभावशाली शिव का तेज ही कुमार है—

अत्यादित्य हुतवहमुखे सम्भृत तद्धि तेज ।

यही स्कन्द की परिभाषा है। हुतवह अर्थात् अग्नि नामक सुषुम्णा के मुख मे सूर्य से भी अधिक प्रकाशित शिव का तेज ही स्कन्द है। कोपो मे स्कन्द की पत्नी का नाम देवसेना है। इन्द्रियो की सात्त्विक और तामसिक वृत्तियो का द्वन्द्व देवासुर-सग्राम है। जब सतोगुणी इन्द्रियाँ काम से हारने लगती है, तव वे समाधि मे वैठे हुए शिव से प्रार्थना करती है कि वे उन्हे एक सेनापति दे। देवो ने भी यही कहा है—

तदिच्छामो विभो स्रष्टु सेन्यान्य तस्य शान्तये। कुमार० २।५१ ॥

अर्थात् उस असुर को परास्त करने के लिए हम लोग एक सेनापति चाहते है। शिवजी ने मदन को भस्म किया, तदुपरान्त उमा की तपस्या

दिखाए गए हैं।

२—षट्चक्र सुषुम्णा नाड़ी में ही रहते है। शरीर-विज्ञान में सुषुम्णा के पाँच स्वाभाविक विकास हो गए हैं, छठा सबसे ऊपर है जहाँ सुषुम्णा (स्पाइनल कॉर्ड), क्रौंच रन्ध्र (मैगनम फोरामेन, अर्थात् बड़े छेद) में होती हुई मस्तिष्क या ब्रह्माण्ड में फैल जाती है। इन पाँच चक्रों की शक्तिप्रवाहिनी नाड़ियो का सम्बन्ध क्रमशः गुदा, लिंग, नाभि, हृदय और कंठ से है। उदाहरण के लिए मणिपूर चक्र नाभि देश का नियन्त्रण करता है, पर उसका स्थान सुषुम्णा मे ही है। इसी प्रकार अन्यत्र चक्रो के विषय में भी है।

से सुषुम्णा नाडी द्वारा योग की साधना से शिव और पार्वती का विवाह हुआ; अर्थात् व्यक्ति की चिदात्मक शक्ति जो अधोमुखी थी वह अन्त-र्मुखी होकर सहस्रदल मे स्थित पर-बिन्दु शिव से सयुक्त हो जाती है, फिर विषयो से उसे कोई भय नही रहता। जो इन्द्रियाँ और सबो को मथ देती है, वे ही प्रमथो के रूप मे शिव के पार्षद (परिषदि साधु) होकर रहती है। 'अत्यादित्य हुतवह मुखे संभृत तद्धि तेज' को समझने के लिए तीनो नाडियो के नाम जान लेने चाहिएँ। सुषुम्णा—वह्नि-स्वरूपा, सरस्वती, लोहित-वर्णा। इडा—चन्द्र-स्वरूपा, गगा, सतोगुणी, अमृत-विग्रहा, पीत-वर्णा। पिंगला—सूर्य-स्वरूपा, तेजसवर्णा, रौद्रात्मिका वज्रिणी, यमुना, राजसी।

सुषुम्णा का नाम वह्नि या हुतवह है। इसी मे अपना तेज हवन करने से शिव यज्वा कहलाते है। साधना मे पुरुष का तेज इसी वह्नि के मुख मे सचित होता रहता है और जब छओ चक्रो का भेदन पूरा हो जाता है तभी उस कुमार का जन्म होता है जिसकी अध्यक्षता मे देवसेना कभी नहीं हारती। पुराणो के अनुसार कुमार वे है जो आजन्म ब्रह्मचारी है।

सहस्रारदल मे जो शिव है वे ही अक्षर तत्त्व है। वही समस्त ब्रह्माण्ड की चित्-शक्ति है। मूलाधार चक्र मे शक्तिपीठ है जहाँ व्यक्ति की शक्ति निवास करती है। शक्ति के तीन कोण कहे गए है—इच्छा, ज्ञान और क्रिया। इन्ही का नाम त्रिपुर है। इनके मध्य मे बसनेवाली शक्ति त्रिपुरसुन्दरी कही गई है। इसी त्रिपुर या त्रिकोण मे कुण्डली मारकर शान्त बसने वाली शक्ति की शब्दगत कल्पना सर्पिणी की है। इसी से शिव के शरीर मे भुजग लिपटे रहते है और शिव को अहिवलय धारण करने वाला कहा गया है। कालिदास ने कहा है—

हित्वा तस्मिन् भुजग-वलय शम्भुना दत्तहस्ता।
क्रीडाशैले यदि च विचरेत् पादचारेण गौरी॥ मेघ० १।६४॥

मूलाधार मे यह सर्पिणी शिवरूप ज्योति के चारो ओर लिपटी रहती है, परन्तु आज्ञा-चक्र मे पहुचकर जब शिव-पार्वती का सयोग हो जाता है तब यह कुण्डलिनी पूरी खुल जाती है, मानो शिवजी अपने सर्प-वलय को त्याग देते है। जहाँ तक शरीरशास्त्र से प्रत्यक्ष करने का विषय है वहाँ तक इस प्रकार त्रिकोणात्मिका शक्ति के रूप को शल्यशास्त्र के द्वारा

हम नही देख सकते। मानस-प्रत्यक्ष से सम्बन्ध रखने वाली वस्तु यन्त्र द्वारा कैसे जानी जा सकती है? इसका दर्शन योगपक्ष में ध्यान[1] द्वारा ही हो सकता है। ज्योति या तेजः स्फुलिंग के आकार का शिवलिंग इसी का प्रतीक है। शिव इसी शक्ति के त्रिकोण या त्रिपुर की विजय करते है, इससे उनकी सज्ञा त्रिपुर-विजयी है। मेरुदंड रूपी पर्वत के सिरे पर उसी के एक प्रदेश का नाम कैलास है। मेरुदंड का ऊर्ध्व सिरा ही कैलास है जहां आज्ञाचक्र है। यहां कैलास पर ही अलकापुरी है। कालिदास कहते है कि यहाँ कामदेव अपने चाप पर शर नहीं चढ़ाता—

मत्वा देव धनपतिसख यत्र साक्षाद्वसन्तं।
प्रायश्चापं न वहति भयान्मन्मथ· षट्पदज्यम् ॥मे० २।१४॥

अर्थात्, कैलास के उत्संग मे बसी हुई अलका में शिव का साक्षात् निवास जानकर बाहर से काम को अपना भौरों की डोरीवाला धनुष काम मे लाने का साहस नही होता। ठीक भी है, आज्ञा-चक्र तक सिद्धि-प्राप्त योगी को कामबाधा नही सता सकती। इसीलिए यहाँ हिमालय मे ही किन्नरियाँ मिलकर त्रिपुर-विजय के गीत गाती हैं—

ससक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः। मे० १।६० ॥

वही धनपति का यश किन्नर गाते हैं क्योंकि शिव और धनपति में सख्य-भाव है—

उद्गायद्भिः धनपतियशः किन्नरैर्यत्र सार्धम् ॥ मे० २।१० ॥

१—केन्द्रस्थ नाड़ी-जाल की रचना अत्यन्त जटिल है। उन तन्तु-समूह, घटिका-बिन्दुओं और प्रतंतुओं में घटित होनेवाले संवेदनात्मक तथा संकल्पात्मक कार्य का ठीक-ठीक पता आज तक नहीं लग सका है। कुछ आश्चर्य नहीं यदि भारतीय योगी ध्यान में इसका प्रत्यक्ष कर सके हों। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि चेतना का जो भौतिक आधार है वह उसके बहुत थोड़े अंश या स्वरूप का परिचय कराता है। कुछ लोग भोगायतन पक्ष में चेतना का आधार न पाकर उसकी सत्ता को ही संदिग्ध मान बैठते हैं। चेतना (चिदात्मक शक्ति) मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखती है, भौतिक रचना में उसका अपूर्ण आभास मिलता है; इसलिए भौतिक रचना को उसका प्रमाण-दण्ड नही मान सकते।

धनपति कुवेर का अनुचर यक्ष अवसर पाते ही अपने कामरूप पुरुप को शिव की उपासना करने का आदेश देता है। पार्वती की संज्ञा गुहा, स्कन्द की गुह और यक्षो की गुह्यक है। इससे भी इनके परस्पर सम्वन्ध का सकेत मिलता है। यक्ष काम की मूर्ति है। उसके नेत्रो से ही कामदेव टपका करता है। इस प्रकार काम से भरा हुआ पुरुष अवश्य ही गुह्यक या रक्षा करने योग है। वह अपनी रक्षा के लिए उस देव की शरण में जाता है जिसने काम को भस्म कर दिया है, तथा फिर जिसके अनगजित् रूप से सेनानी गुह का जन्म हुआ।[1] शिवजी पिनाकपाणि है—

अरूप-हार्य मदनस्य निग्रहात्
पिनाकपाणिं पतिमाप्तुमिच्छति ॥ कुमार० ५।५३ ॥

पिनाक को शिव का धनुष कहते है। निरुक्त मे पिनाक के अर्थ है—
रम्भः पिनाकमिति दडस्य ॥ नैगम काड ३।४॥
अर्थात्, रम्भ और पिनाक दड के नाम है। वही यह भी लिखा है—
कृत्तिवासाः पिनाक हस्तोऽवततधन्वेत्यपि निगमो भवति ।

पिनाक नाम मेरुदंड का ही है। यही शिव का धनुष है। इस दडाकार धनुप की दो कोटियाँ—सिरे—हैं। नीची कोटि मूलाधार चक्र मे है। वहाँ जो कु डलिनी पड़ी है, उसी को पिनाक की प्रत्यंचा कल्पित करके उसके दूसरे सिरे को शिव आज्ञा-चक्र मे ले जाते है। यही धनुष की प्रत्यचा चढाना या अवततधन्वा होना है। प्रायः धनुपो की प्रत्यचा खुली रहती है और वे दडाकार होते है। जो पुरुप धनुष पर चिल्ला (डोरी) चढा सकता है, वही उस धनुष का स्वामी माना जाता है। पिनाक को सवसे प्रथम शिव ने अधिज्य किया, इसलिए वे ही उस धनुष के स्वामी है।

शिवजी की सज्ञा खडपरशु है—

भूतेशः खडपरशुर्गिरीशो गिरोशो ।/मृड ।—अमरकोष ॥

और यही सज्ञा भृगुपति की भी है। भृगुपति की सज्ञा क्रौचदारण कालिदास ने ही दी है—हसद्वार भृगुपतियशोवर्त्मं यत्क्रौचरन्ध्रम् (मे०,

---

१—गूहति रक्षति देवसेनामिति गुहः। इः कामः अक्षिषु यस्य स यक्षः (भानुजी दीक्षित), अर्थात् देवसेना की जो रक्षा करता है वह गुह है और जिसकी आंखो में काम भरा रहता है वह यक्ष है।

१।६१) । क्रौंचदारण संज्ञा स्वामी कार्तिकेय[1] की भी है। इस प्रकार शिव, भृगुपति और कुमार का सम्बन्ध भी स्थापित होता है। शिव और कुमार मे कोई भेद नही है क्योकि शिव का ही तेज कुमार है। यह भी प्रसिद्ध है कि कुमार की उत्पत्ति मे किसी स्त्री के गर्भ की आवश्यकता नही हुई। वस्तुत कालिदास ने कुमार को अग्नि के मुख मे सभृत तेज[2] लिखा है। फिर जो पिनाक शिव के पास है, वही अजगव नामक शिव-धनु परशुराम के पास भी था। इस प्रकार इन तीनो मे सम्बन्ध प्रतीत होता है। योग की साधना मे पट्चक्र के भेदन के समय प्राण को जिस रन्ध्र मे से निकलकर शिव तक पहुचना है, वही क्रौंचरन्ध्र का दारण है। कपालस्थ जिस रन्ध्र मे होकर सुपुम्णा मस्तिप्क मे प्रवेश करती है वह द्वार ही यह क्रौंचरन्ध्र है। सुषुम्णा (स्पाइनल कॉर्ड) श्वेत और विभूति वर्ण पदार्थ की चित्रिणी या चितकवरी नाडी है। वह मूलाधार चक्र से आगे चार अको मे होती हुई विशुद्धि-चक्र (सर्विकल रीजन) को पार कर मस्तिष्क मे फैल जाती है। सर्विकल रीजन के प्रथम अस्थि-पर्व को अंग्रेजी मे ऐटलस कहा जाता है, जो अपने ऊपर आकाश या द्युलोक को उठाए हुए था। यही से सुपुम्णा नाडी स्पाइनल वल्व मे होकर मस्तिप्क मे जाती है। इसलिए क्रौंच पर्वत ही स्पाइनल वल्व है जिसे मेडूला औवलौगाटा भी कहते हैं। इसी मे क्रौंचरन्ध्र या गडा छेद है जिसे अग्रेजी मे मैगनम फोरामेन कहते हैं। इसी विवर मे तिर्यगायाम के साथ अर्थात् तिरछी झुककर सुपुम्णा प्रवेश करती है। कुण्डलिनी शक्ति जिस समय मूलाधार से जागकर शिव नामक आज्ञा-चक्र मे जाती है, उसे भी इसी द्वार से होकर जाना पडता है। इस नन्ध्र का धारण करना भृगुपति के लिए वडा यशस्वी कार्य है, इसी से कालिदास ने इसे भृगुपति-यशोवर्त्म (मे०, १।६१) कहा है। प्रालेयाद्रि या हिमाद्रि अर्थात् पर्ववान् पृष्ठवश के उपातर मे ही यह क्रौंचद्वार वताया गया है। भृगुपति शिव का नामान्तर है। क्रौंच-दारण, खड-परशु, कुमार, भृगुपति और शिव ये एक

१—षाण्मातुरः शक्तिधरः कुमारः क्रौंचदारण । अमरकोष।
कैलासे धनदावासे क्रौंच क्रौंचोऽभिधीयते। वृहद्धारावली।

२—तेजो हि साक्षाद् भगवतो हरस्यैव मुर्त्यन्तरमित्यर्थः। (मल्लिनाथ)
अर्थात् वह तेज शंकर का साक्षात् मूर्त्यन्तर ही है।

ही चैतन्य के नामान्तर हैं जो विशेष गुणो के कारण कल्पित किये गए है।

क्रौंचतट से तुरन्त आगे शुभ्र कैलास ही खड़ा है (मे०, १।६२)। योग की परिभाषा मे विशुद्धिचक्र के अनन्तर आज्ञा-चक्र है जहाँ शिवरूप ज्योति का प्रकाश है। मूलाधार-चक्र से योग-साधना के लिए जिस नृत्य का आरम्भ होता है उसकी सिद्धि होने पर शिवजी वज्र-अट्टहास करते है। वही मानो शुभ्र कैलास के रूप में घनीभूत हो गया है—

राशीभूत प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहास ।।मे० १।६२ ।।

इसी कैलास का नाम रजतगिरि है। यहाँ एक मणि-तट है। उस पर शिवजी गौरी के साथ आरोहण करना चाहते है। मेघ को चाहिए कि वह स्तम्भितान्तर्जलौघ. (अपने जलीय तत्त्व को भीतर रोक रखने-वाला) बनकर अपने शरीर की सीढी बनाकर शिव को वहाँ आरोहण करने मे सहायता दे।

इस मणितट[१] का योग-ग्रन्थो मे विशद वर्णन है। पादुका-पंचक नामक तन्त्र-योग के ग्रंथ मे मणिपीठ की बडी महिमा कही गई है। मस्तिष्क मे जो परम चिन्मय सहस्र-दल कमल है उसमें अकथ त्रिकोण है। उस त्रिकोण मे मणि-पीठ है, उस पर शुभ्र रजताद्रि के समान अनन्तगुरु शिव सुशोभित है। अथवा प्रकृति-पुरुष के संयोग रूप शिव-गौरी विराजते है। मेघदूत मे कामरूप पुरुष को स्तम्भित करके शिव उस मणितट पर चढते हैं। इस मणितट की प्रभा तडिच्छवि को लजाने वाली है (पटुतडित्-कडारिम-स्पर्द्धमान मणिपाटलप्रभम्)। कालिदास ने न केवल क्रौंचरन्ध्र के पश्चात् कैलास का ही वर्णन आवश्यक समझा, वरन् वहाँ के मणितट का भी नाम लिखा है। इससे उनकी योग-परिभाषा का सकेत स्पष्ट सिद्ध है—

भगी भक्त्या विरचितवपु: स्तम्भितान्तर्जलौघः।
सोपानत्वं कुरु मणितटारोहणायाग्रयायी ।। मे० १।६४ ।।

१—बौद्धो का महामन्त्र—ओम् मणिपद्मे हुँ—इसी मणि की ओर संकेत करता है। काशी (ज्ञान की पुरी, शिव के धाम) में मणि-कर्णिका घाट है जहाँ नहाने से अथवा प्राण त्यागने से मोक्ष होता है। मणिकर्णिका—सहस्रदल कमल की कर्णिका।

अर्थात्, हे मेघ ! तू आगे बढ़कर अपना जल अपने भीतर रोककर शिव के मणितट पर चढने के लिए सोपान बन जाना। इन वर्णनों में कवि ने काव्य के साथ-साथ योगशास्त्र के उच्च अनुभवों का भी गूढ़ समन्वय किया है।

मल्लिनाथ ने क्रीडाशैल (मेघ०, १।६०) का अर्थ बताते हुए शम्भु-रहस्य का अवतरण देकर लिखा है—

> कैलासः कनकाद्रिश्च मन्दरो गन्धमादनः।
> क्रीडार्थं निर्मिताः शम्भोर्देवैः क्रीडाद्रयोऽभवन्॥

देवताओं ने शम्भु की क्रीडा के लिए कैलास (रजताद्रि), कनकाद्रि (मेरु, सुमेरु, हेमगिरि, महा-रजतगिरि), मन्दर और गन्ध-मादन पर्वत बनाए थे, इसलिए ये सब क्रीड़ाशैल कहलाते हैं।

मेरु पर्वत या मेरुदंड और उसी के समीप स्थित क्रीड़ाशैल कैलास का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट प्रतीत होता है। कैलास की व्युत्पत्ति ही क्रीडा-स्थान है—केलीनां समूहः कैलम् (तस्य समूहः इत्यण्) तेन आस्यतेऽत्र (आस्-बैठना) इति कैलास. (भानुजी दीक्षित), अर्थात् शिव की क्रीडाओं का स्थान कैलास है। यहीं कुबेर रहते हैं, यहीं यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध और चारणों के मिथुन विहार करते हैं, यहीं ध्यानावस्थित होकर योगी शंकर तप करते हैं और फिर पार्वती-शक्ति से विवाह करके क्रीड़ा करते हैं। वस्तुतः यहाँ एक ही मेरुदंड को पर्वत कल्पित करके उसके भिन्न-भिन्न नाम दिये गए हैं। इस मेरुदंड का जो भाग मूलाधार-चक्र में स्थित है उसका नाम चित्रकूट है क्योंकि चित्रा नाम सुषुम्णा या कुण्डलिनी[1] का है, और यह चित्रिणी मूलाधार-चक्र के आधार पर ठहरी हुई है। चित्रा का कूट ही चित्रकूट है। यही रामगिरि है क्योंकि शिव धनु को शिव की भाँति राम ने भी अधिज्य किया था। यहीं से काम-पुरुष उठकर कैलास की गोद में बसी अलका को जाता है। मेरुदंड की एक कोटि पर शिव और दूसरी पर राम हैं, इन्हीं के बीच में

१—भूरे और श्वेत दो वर्णों के संयोग के कारण कुंडलिनी को ललिता या चित्रा नाम दिया गया है। ग्रे मैटर और ह्वाइट मैटर के मिलने से चित्र वर्ण बनता है—देखिए आर्थर एवलेन कृत 'सर्पेण्ट पावर' का पादुका-पंचक; भाग १, पृष्ठ १६५।

यह अजगव धनुष तना हुआ या अवतत है। कुण्डली के विवर को सहस्रार पद्म ढके हुए है। कुण्डली के विवर (स्पाइनल कॉलम के अन्तर्गत स्पाइनल केनाल) से तात्पर्य उस मार्ग से है जिसके द्वारा मूलाधार मे शिव-तेज के चारो ओर प्रसुप्त कुण्डलिनी प्रवुद्ध होकर ऊपर चढती हुई शिव से मिल जाती है। चित्रिणी के भीतर ही यह मार्ग है। चित्रिणी उस नलिका को समझना चाहिए जिसके भीतर यह विवर है। जिस प्रकार कमल अपनी नाल के सिरे पर शोभित होता है, वैसे ही चित्रिणी और सहस्रदल तथा द्वादशदल कमल का सम्वन्ध है। चित्रिणी या कुण्डलिनी परम चैतन्य ज्योति है। यही वह स्पन्दनात्मक शक्ति है जिससे सव रचना होती है। इसी की इच्छा, ज्ञान और मायामयी त्रिगुणात्मिका मूर्ति जीवों (पशुओं) में सत्त्व, रज और तम रूप मे प्रकट होती है। उसी के संकोच और प्रकर्ष के स्फुरण से क्रीड़ा-शरीर बनता है। ऋग्वेद मे इसी अदिति शक्ति के आठ पुत्र वताए गए है। शैव दर्शन मे भी शिव की आठ मूर्तियाँ प्रसिद्ध है।[1] योग-साधना मे सप्तर्षि (पचेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि) कुण्डलिनी-रूपिणी उमा और शिव के वीच मे पडकर उनका विवाह-सम्वन्ध स्थिर करते है। जब शिव का पार्वती के साथ विवाह रचाया जाता है तब ये सातो ऋषि विवाह-यज्ञ के अध्वर्यु वनते है। इस यज्ञ मे यदि इनकी अनुमति और शुभाशीर्वाद होगा तभी यह सफल हो सकता है। शिवजी कहते है—

विवाह-यज्ञे विततेऽत्र यूयमध्वर्यवः पूर्ववृता मयेति ॥ कुमार० ७।४७ ॥

अर्थात्, विवाह-यज्ञ का वितान होने पर पहले ही मैंने आप लोगों को अपना अध्वर्यु वना लिया था।

मेघदूत मे शिव के वाहन वृष का (१।५६) और कुमार के वाहन मयूर का (१।४८) भी उल्लेख है। वृष या इन्द्र, इन्द्रियों की शक्ति का कारण है। पाणिनि भी इन्द्रिय-शक्ति की व्युत्पत्ति इन्द्र से ही करते

१—श्री चित्तिशक्तिरेव पारमेश्वरी ज्ञान-क्रिया-माया-शक्तित्रितयतया-श्रीसदाशिवादिपदे स्फुरित्वा संकोचप्रकर्षात्सत्त्वरजस्तमोरुपं क्रीडा शरीरं श्रयति (स्पन्द-निर्णय पृ०, ३७)। सुप्रबुद्ध योगी अपनी चित् शक्ति के स्फार से ही सब जगत् को अधिष्ठित जानता है (प्रत्यभिज्ञशास्त्र)।

हैं[1] (५।२।९।३)। वृष, इन्द्र और काम का घनिष्ठ सम्बन्ध है। शिवजी जिस समय तीसरे नेत्र से उत्पन्न अग्नि से काम को भस्म कर देते हैं तब मानो वे वृष (काम) पर आरोहण करते हैं। इस वृष पर आरोहण करने के लिए वे कुम्भोदर सिंह की सहायता लेते है, यथा—

कैलासगौर वृषमारुरुक्षो पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठं।
अवेहि मा किंकरमष्टमूर्ते. कुम्भोदर नाम निकुम्भ-मित्रम्॥
—रघु० २।३५॥

कैलास के सदृश वृष पर आरोहण करने की इच्छा से जिसकी पीठ पर पैर रखकर शिव चढ़ते है वह मैं अष्टमूर्ति शिव का किंकर कुम्भोदर नाम का सिंह हूँ। काम-शक्ति का वर्णन गीता मे भी यही है—

महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्। ३।३७॥

कामदेव बड़े भोगवाला है। काम और रसना का सदा साथ है, क्योकि जो जलतत्त्व स्वाधिष्ठान-चक्र का अधिष्ठाता है, वही जिह्वा में वसता है। वृष पर चढने के लिए कुम्भोदर की पीठ पर पैर रखना आवश्यक है। स्कन्द का वाहन मयूर है। हम वता चुके हैं कि स्कन्द का सम्वन्ध छः की सख्या से है, उसका वाहन मयूर भी षड्ज स्वर संवादी[2] है। सर्परूप कुण्डलिनी का स्वाभाविक वैर मयूर से है। परन्तु शिव की साधना से जन्मे हुए कुमार का वाहन होकर मयूर, कुण्डलिनी-रूपी सर्पिणी का मित्र हो जाता है। शिव के कुटुम्ब मे साँप और मोर वैर त्याग कर वसते है। तात्पर्य यह है कि पहले मनुष्य कुण्डलिनी के यथार्थ स्वरूप को न जानकर उसे विनाशकारी मार्ग में लगाता है पर 'कुमार' स्कन्द के जन्म के पश्चात् वह अपने षट्चक्रो के सयमपूर्ण विनि-योग को जान जाता है। काम का सम्वन्ध रेत से है, काम का निवास स्वाधिष्ठान-चक्र मे है। इसी चक्र में जल का निवास है, जैसा कहा है—आप रेतो भूत्वा शिश्नम् प्राविशन् (ऐतरेय उ० १।२।४)। आयुर्वेद के मत से भी वीर्य का जलतत्त्व से सम्वन्ध है। निरुक्त मे तथा सस्कृत

१—इन्द्रियमिन्द्रलिंगमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा। (अष्टाध्यायी, ५.२।९३)

२—षड्ज संवादिनी केका द्विधा भिन्ना शिखण्डिभिः। रघु० १।३९
षड्जं मयूरो वदति इति मातंग॥

साहित्य मे भी जल के ही विष और अमृत दो नाम है । शरीरस्थ रेत, हिरण्य के समान भास्वर तेजवाला है। जिस समय दैवी वृत्तियाँ आसुरी वृत्तियो से दवी रहती है, उस समय रेत, विप स्वरूप होकर सब इन्द्रियों के तेज को जीर्ण कर देता है। उस विप को सहने, पचाने और धारण करने की शक्ति किसी इन्द्रियाधिष्ठाता देवता मे नही है । जब तक शिव विप को नही पीते तव तक इन्द्रियरूपी देवता उसकी लपटो से झुलसे हुए रहते है। गोसाई जी ने ठीक कहा है—

जरत सकल सुरवृन्द, विपम गरल जेहि पान किय ॥

शिव ही योग-समाधि के कारण उस विष का पान कर सकते है। पाँचो चक्रो को भेदकर जब पहले शिव इस रेत के दुर्विषह्य तेज को विशुद्धि-चक्र अर्थात् कठ मे स्थापित कर लेते है, तभी सव देवता अमृत का भाग पाते है। शिव के विपपान के पश्चात् वही रेत अमृत रूप होकर इन्द्रियो के आत्म-तेज का सवर्द्धन करता है। शिव का विषपान प्रकारान्तर से योग-साधना के फल का वर्णन है।

यक्ष ने मेघ से एक काम और लिया है—

नृत्यारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छा ।
शान्तोद्वेगस्तिमितनयन दृष्टभक्तिर्भवान्या ॥ मे० १।३६ ॥

हे मेघ ! सायकाल के समय नवीन जपा-पुष्प की लाली के सदृश रक्तिमा से सम्पन्न अपने मडल को शिव की भुजाओ पर इस प्रकार तान देना कि अपने नाच के आरम्भ में उन्हे गजासुर की गीली खाल की इच्छा न रहे। उस तेरी शिव-भक्ति को उस समय पार्वती भी निश्चल नयन होकर देखेंगी।

सक्षेप मे तन्त्रानुसार इसका अर्थ यह है कि जिस मूलाधार चक्र का पृथ्वी तत्त्व है उसमे सप्तप्राणरूपी सप्तशु ड युक्त गजाकार ज्योति है जिसकी पीठ पर शिव-तेज के चारो ओर वलित कुण्डलिनी स्थित रहती है। जिस समय योग-साधन की इच्छा से (नृत्यारम्भे) शिवजी इस चक्र को भेदते है, तव इस गज की मानो मृत्यु हो जाती है। जिस व्यक्ति ने काम को वश मे नही किया है ऐसा कोई व्यक्ति इस गज को परास्त नही कर सकता।

आज्ञा-चक्र मे प्रणव का प्रत्यक्ष होता है। वहा ही चन्द्राकार ज्योति का दर्शन होता है। यही सूर्य, चन्द्र, और अग्नि के तीन बिन्दु है जिनके

नामान्तर शिव, विष्णु और ब्रह्मा तन्त्र-ग्रथो मे प्रसिद्ध है। यहाँ साधक को चन्द्र की किरणो से टपकनेवाली सुधा के आस्वाद का आनन्द मिलता है। इसीलिए शिवजी नवशशिभृत (मेघ० १।४७) और इन्दुशेखर (कुमार० ५।७८) है। योगशास्त्र मे शिव के रूप का बडा विस्तार दिया गया है। शिवपुराण, स्कन्दपुराण[1] तथा तन्त्रो ने इसे बढाकर कथाओ के रूप मे प्रकट किया है। कालिदास का यह कहना बहुत ठीक है—

न सन्ति याथार्थ्यविद पिनाकिन. ॥ कु० ५।७७ ॥
न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपु ॥ कु० ५।७८ ॥

शिव के स्वरूप का ठीक-ठीक निर्धारण कौन व्यक्ति कर सकता है ? पाशुपतशास्त्र[2] मे शिव, विष्णु और ब्रह्मा के अद्वैत को मानकर जीवात्मा के साथ परम चित् शक्ति का तादात्म्य दिखाया है। वह चित्-शक्ति-रूप परमहस शिव सहस्रार-पद्म मे प्रतिष्ठित है। उस पर-बिन्दु तक पहुँचने का मार्ग योग-साधना द्वारा कुण्डलिनी को जगाकर ब्रह्माण्ड मे ले जाना है। जब तक वृषकेतु, वृषाञ्चन, शिव-रूप आत्मा के दर्शन नही होते, तब तक काम-बाधा चित्त-वृत्तियो को अधोमुखी रखती है। वृषपति शिव की साधना और भक्ति (मेघ० १।५९) प्राप्त करना प्रत्येक कामरूप पुरुष के लिए अत्यन्त आवश्यक है। कालिदास के अनुसार योग के द्वारा परमात्म-सज्ञक परम-ज्योति का दर्शन करना ही

१—इसकी कथा स्कन्द महापुराणान्तर्गत काशीखंड के ६८ वें अध्याय में दी हुई है। गजासुर ने ब्रह्मा से वर पाया था कि कंदर्प-वशीभूत किसी व्यक्ति के हाथ उसकी मृत्यु न होगी। पार्वती ने जिस समय महादेव से रत्नेश्वर लिंग (मणिपीठाधिपति शिव) का माहात्म्य सुना उसी समय गजासुर अपने बलवीर्य मे उन्मत्त होकर प्रमथों को निपीडन करके शिव की ओर झपटा। कंदर्पहारी महादेव ने पास आने पर उसे त्रिशूल से छेदकर शून्य मे टाँग दिया। महादेव जी के मस्तक पर उसने अपना शरीर छत्र की भाँति फैला लिया था। जब उसने शिव की बहुत स्तुति की तब शिव ने वर देना चाहा। गजासुर ने कहा कि आप मेरे शरीर का चमड़ा पहन लीजिए। इसी से शिवजी कृत्तिवास कहलाए।

२—जीव कार्य है, इसका नाम पशु है। ईश्वर कारण है, वही पशुपति

जीवन की परम सिद्धि है—

योगोत्स चान्तः परमात्मसञ्ज

दृष्ट्वा पर ज्योतिरुपारराम ॥ कुमार० ३।५८ ॥

शिव के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान ही कालिदास के दर्शन और साधन का ज्ञान है।

है। पशुपति में चित्त की समाधि ही योग है। भस्म, विभूनि, स्नान आदि तपश्चर्या-विधि है। मोक्ष इसका प्रयोजन है। उस मोक्ष का फल दुःख का अन्त है। यही संक्षेप में पाशुपत-शास्त्र है।

पूर्व मेघ

१

कोई यक्ष था। वह अपने काम मे असावधान हुआ तो यक्षपति ने उसे शाप दिया कि वर्ष-भर पत्नी का भारी विरह सहो। इससे उसकी महिमा ढल गई।

उसने रामगिरि के आश्रमो मे वस्ती वनाई जहाँ घने छायादार पेड थे और जहाँ सीता जी के स्नानो द्वारा पवित्र हुए जल-कुण्ड भरे थे।

२

स्त्री के विछोह मे कामी यक्ष ने उस पर्वत पर कई मास बिता दिए। उसकी कलाई सुनहले कगन के खिसक जाने से सूनी दीखने लगी।

आषाढ़ मास के पहले दिन पहाड़ की चोटी पर झुके हुए मेघ को उसने देखा तो ऐसा जान पडा जैसे ढूसा मारने मे मगन कोई हाथी हो।

१

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः
शापेनास्तङ्गमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु॥

२

तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी
नीत्वा मासान्कनकवलयभ्रंशरिक्त प्रकोष्ठः
आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श॥

३

यक्षपति का वह अनुचर कामोत्कंठा जगाने वाले मेघ के सामने किसी तरह ठहरकर, आँसुओं को भीतर ही रोके हुए देर तक सोचता रहा।

मेघ को देखकर प्रिया के पास में सुखी जन का चित्त भी और तरह का हो जाता है; कंठालिगन के लिए भटकते हुए विरही जन का तो कहना ही क्या ?

४

जब सावन पास आ गया, तब निज प्रिया के प्राणों को सहारा देने की इच्छा से उसने मेघ द्वारा अपना कुशल-संदेश भेजना चाहा।

फिर, टटके खिले कुटज के फूलों का अर्घ्य देकर उसने गद्गद हो प्रीति-भरे वचनों से उसका स्वागत किया।

३

तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधानहेतो-
रन्तर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ।
मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ॥

४

प्रत्यासन्ने नभसि दयिताजीवितालम्बनार्थी
जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन्प्रवृत्तिम्।
स प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्घाय तस्मै
प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार ॥

५

धुएँ, पानी, धूप और हवा का जमघट बादल कहाँ? कहाँ सन्देश की वे बातें जिन्हे चोखी इन्द्रियो वाले प्राणी ही पहुँचा पाते है?

उत्कठावश इस पर ध्यान न देते हुए यक्ष ने मेघ से ही याचना की।

जो काम के सताए हुए है, वे जैसे चेतन के समीप वैसे ही अचेतन के समीप भी, स्वभाव से दीन हो जाते है।

६

पुष्कर और आवर्तक नाम वाले मेघो के लोक-प्रसिद्ध वंश मे तुम जन्मे हो। तुम्हे मैं इन्द्र का कामरूपी मुख्य अधिकारी जानता हूँ। विधिवश, अपनी प्रिया से दूर पड़ा हुआ मैं इसी कारण तुम्हारे पास याचक बना हूँ।

गुणीजन से याचना करना अच्छा है, चाहे वह निष्फल ही रहे। अधम से माँगना अच्छा नही, चाहे सफल भी हो।

५

धूमज्योति. सलिलमरुतां संनिपातः क्व मेघ.
संदेशार्था क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन्गुह्यकस्तं ययाचे
कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥

६

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद्दूरबन्धुर्गतोऽहं
याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥

७

जो सन्तप्त है, हे मेघ, तुम उनके रक्षक हो। इसलिए कुबेर के क्रोधवश विरही बने हुए मेरे सन्देश को प्रिया के पास पहुँचाओ।

यक्षपतियो की अलका नामक प्रसिद्ध पुरी मे तुम्हे जाना है, जहाँ बाहरी उद्यान मे बैठे हुए शिव के मस्तक से छिटकती हुई चादनी उसके भवनो को धवलित करती है।

८

जब तुम आकाश मे उमड़ते हुए उठोगे तो प्रवासी पथिकों की स्त्रियाँ मुँह पर लटकते हुए घुँघराले बालो को ऊपर फेंककर इस आशा से तुम्हारी ओर टकटकी लगाएँगी कि अब प्रियतम अवश्य आते होगे।

तुम्हारे घुमडने पर कौन-सा जन विरह मे व्याकुल अपनी पत्नी के प्रति उदासीन रह सकता है, यदि उसका जीवन मेरी तरह पराधीन नही है?

७

संतप्तानां त्वमसि शरण तत्पयोद ! प्रियाया:
संदेशं मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य।
गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणां
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ॥

८

त्वामारूढं पवनपदवीमुद्गृहीतालकान्ता:
प्रेक्षिष्यन्ते पथिकवनिता: प्रत्ययादाश्वसन्त्य:।
क: संनद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायां
न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो य: पराधीनवृत्ति: ॥

९

अनुकूल वायु तुम्हे धीमे-धीमे चला रही है। गर्व-भरा यह पपीहा तुम्हारे बाएँ आकर मीठी रटन लगा रहा है।

गर्भाधान का उत्सव मनाने की अभ्यासी बगुलियाँ आकाश में पक्तियाँ बाँध-बाँधकर नयनो को सुभग लगनेवाले तुम्हारे समीप अवश्य पहुँचेगी।

१०

विरह के दिन गिनने मे सलग्न, और मेरी बाट देखते हुए जीवित, अपनी उस पतिव्रता भौजाई को, हे मेघ, रुके बिना पहुँचकर तुम अवश्य देखना।

नारियो के फूल की तरह सुकुमार प्रेम-भरे हृदय को आशा का वन्धन विरह मे टूटकर अकस्मात् बिखर जाने से प्राय: रोके रहता है।

९

मन्द मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः।
गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमाला·
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः॥

१०

तां चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नी-
मव्यापन्नामविहतगतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम्।
आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां
सद्यपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि॥

११

जिसके प्रभाव से पृथ्वी खुम्भी की टोपियो का फुटाव लेती और हरी होती है, तुम्हारे उस सुहावने गर्जन को जब कमलवनों मे राजहस सुनेगे, तब मानसरोवर जाने की उत्कठा से अपनी चोच मे मृणाल के अग्रखड का पथ-भोजन लेकर वे कैलास तक के लिए आकाश मे तुम्हारे साथी बन जायँगे।

१२

अब अपने प्यारे सखा इस ऊँचे पर्वत से गले मिलकर विदा लो जिसकी ढालू चट्टानो पर लोगों से वन्दनीय रघुपति के चरणो की छाप लगी है; और जो समय-समय पर तुम्हारा सम्पर्क मिलने के कारण लम्बे विरह के तप्त आँसू बहाकर अपना स्नेह प्रकट करता रहता है।

११

कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामवन्ध्यां
तच्छ्रुत्वा ते श्रवणसुभगं गर्जितं मानसोत्का:।
आकैलासाद्बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्त:
संपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसा: सहाया:॥

१२

आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य शैलं
वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु।
काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम्॥

१३

हे मेघ, पहले तो अपनी यात्रा के लिए अनुकूल मार्ग मेरे शब्दों मे सुनो—थक-थककर जिन पर्वतों के शिखरों पर पैर टेकते हुए, और बार-बार तनक्षीण होकर जिन सोतों का हलका जल पीते हुए तुम जाओगे। पीछे, मेरा वह सन्देश सुनना जो कानो से पीने योग्य है।

१४

क्या वायु कही पर्वत की चोटी ही उड़ाए लिए जाती है, इस आशंका से भोली बालाएँ ऊपर मुँह करके तुम्हारा पराक्रम चकित हो-होकर देखेगी।

इस स्थान से जहाँ बेत के हरे पेड़ है, तुम आकाश मे उडते हुए मार्ग मे अड़े दिग्गजो के स्थूल शुण्डो का आघात बचाते हुए उत्तर की ओर मुँह करके जाना।

१३

मार्गं तावच्छृणु कथयतस्त्वत्प्रयाणानुरूपं
संदेशं मे तदनु जलद! श्रोष्यसि श्रोत्रपेयम्।
खिन्नः खिन्नः शिखरिषु पदं न्यस्य गन्तासि यत्र
क्षीणः क्षीण परिलघु पयः स्रोतसां चोपभुज्य॥

१४

अद्रेः शृंगं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभि-
र्दृष्टोत्साहश्चकितचकितं मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः।
स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं
दिङ्नागानां पथि परिहरन्स्थूलहस्तावलेपान्॥

१५

चम-चम करते रत्नो की झिलमिल ज्योति-सा जो सामने दीखता है, इन्द्र का वह धनुखड वॉवी की चोटी से निकल रहा है।

उससे तुम्हारा सॉवला शरीर और भी अधिक खिल उठेगा, जैसे झलकती हुई मोरशिखा से गोपाल वेशधारी कृष्ण का शरीर सज गया था।

१६

खेती का फल तुम्हारे अधीन है—इस उमग से ग्राम-वधूटियाँ भौहे चलाने मे भोले, पर प्रेम से गीले अपने नेत्रो मे तुम्हे भर लेगी।

माल क्षेत्र के ऊपर इस प्रकार उमड-घुमडकर वरसना कि हल से तत्काल खुरची हुई भूमि गन्धवती हो उठे। फिर कुछ देर वाद चटक-गति से पुनः उत्तर की ओर चल पड़ना।

१५

रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्ता-
द्वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः॥

१६

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः।
सद्य सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं
किंचित्पश्चाद्व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण॥

१७

वन मे लगी हुई अग्नि को अपनी मूसलाधार वृष्टि से बुझाने वाले, रास्ते की थकान से चूर, तुम जैसे उपकारी मित्र को आम्रकूट पर्वत सादर सिर-माथे पर रखेगा।

क्षुद्रजन भी मित्र के अपने पास आश्रय के लिए आने पर पहले उपकार की बात सोचकर मुँह नही मोडते। जो उच्च है, उनका तो कहना ही क्या ?

१८

पके फलो से दिपते हुए जंगली आम जिसके चारो ओर लगे है, उस पर्वत की चोटी पर जब तुम चिकनी वेणी की तरह काले रंग से घिर आओगे, तो उसकी शोभा देव-दम्पतियो के देखने योग्य ऐसी होगी जैसे बीच मे साँवला और सब ओर से पीला पृथ्वी का स्तन उठा हुआ हो।

१७

त्वामासारप्रशमितवनोपप्लवं साधु मूर्ध्ना
वक्ष्यत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाम्रकूटः।
न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः॥

१८

छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रै-
स्त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे।
नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां
मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः॥

१६

उस पर्वत पर जहाँ कुंजो मे वनचरो की वधुओं ने रमण किया है, घडी-भर विश्राम ले लेना। फिर जल बरसाने से हल्के हुए, और भी चटक चाल से अगला मार्ग तय करना।

विन्ध्य पर्वत के ढलानो मे ऊचे-नीचे ढोको पर बिखरी हुई नर्मदा तुम्हे ऐसी दिखाई देगी जैसे हाथी के अंगो पर भाँति-भाँति के कटावो से शोभा-रचना की गई हो।

२०

जब तुम वृष्टि द्वारा अपना जल बाहर उँडेल चुको तो नर्मदा के उस जल का पान कर आगे बढना जो जगली हाथियो के तीते महकते मद से भावित है और जो जामुनो के कुंजो मे रुक-रुककर बहता है।

हे घन, भीतर से तुम ठोस होगे तो हवा तुम्हे न उड़ा सकेगी, क्योकि जो रीते है वे हल्के, और जो भरे-पुरे है वे भारी-भरकम होते हैं।

१६

स्थित्वा तस्मिन्वनचरवधूभुक्तकुञ्जे मुहूर्तं
तोयोत्सर्गं द्रुततरगतिस्तत्परं वर्त्म तीर्णः।
रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमंगे गजस्य॥

२०

तस्यास्तिक्तैर्वनगजमदैर्वासितं वान्तवृष्टि-
र्जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयं तोयमादाय गच्छेः।
अन्तःसारं घन ! तुलयितुं नानिल शक्ष्यति त्वां
रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय॥

२१

हे मेघ, जल की बूंदे बरसाते हुए तुम्हारे जाने का जो मार्ग है, उस पर कही तो भौरे अधखिले केसरो वाले हरे-पीले कदम्बो को देखते हुए, कही हिरन कछारों मे भुँई-केलियों के पहले फुटाव की कलियों को टूँगते हुए, और कही हाथी जंगलो मे धरती की उठती हुई उग्र गन्ध को सूंघते हुए मार्ग की सूचना देते मिलेगे।

२२

हे मित्र, मेरे प्रिय कार्य के लिए तुम जल्दी भी जाना चाहो, तो भी कुटज के फूलो से महकती हुई चोटियो पर मुझे तुम्हारा अटकाव दिखाई पड रहा है।

सफेद डोरे खिचे हुए नेत्रो मे जल भरकर जब मोर अपनी केका-वाणी से तुम्हारा स्वागत करने लगेगे, तब जैसे भी हो, जल्दी जाने का प्रयत्न करना।

२१

नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशं केसरैरर्धरूढै-
राविर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीश्चानुकच्छम्।
जग्ध्वारण्येष्वधिकसुरभिं गन्धमाघ्राय चोर्व्याः
सारंगास्ते जललवमुच सूचयिष्यन्ति मार्गम्॥

२२

उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे! मत्प्रियार्थं यियासो
कालक्षेपं ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते ते।
शुक्लापांगैः सजलनयनैः स्वागतीकृत्य केका.
प्रत्युद्यातः कथमपि भवान्गन्तुमाशु व्यवस्येत्॥

२३

हे मेघ, तुम निकट आए कि दशार्ण देश मे उपवनों की कटीली रौसों पर केतकी के पौधो की नुकीली बालो से हरियाली छा जायगी; घरो मे आ-आकर रामग्रास खाने वाले कौवो द्वारा घोंसले रखने से गाँवो के वृक्षो पर चहल-पहल दिखाई देने लगेगी; और पके फलों से काले भौंराले जामुन के वन सुहावने लगने लगेंगे। तब हंस वहाँ कुछ ही दिनों के मेहमान रह जायँगे।

२४

उस देश की दिगन्तो मे विख्यात विदिशा नाम की राजधानी मे पहुँचने पर तुम्हे अपने रसिकपने का फल तुरन्त मिलेगा—वहाँ तट के पास मठारते हुए तुम वेत्रवती के तरंगित जल का ऐसे पान करोगे जैसे उसका भ्रू-चचल मुख हो।

२३

पाण्डुच्छायोपवनवृतयः केतकैः सूचिभिन्नै-
र्नीडारम्भैर्गृहबलिभुजामाकुलग्रामचैत्याः।
त्वय्यासन्ने परिणतफलश्यामजम्बूवनान्ताः
संपत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः॥

२४

तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीं
गत्वा सद्यः फलमविकलं कामुकत्वस्य लब्धा।
तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसि स्वादु यस्मा-
त्सभ्रूभंगं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि॥

२५

विश्राम के लिए वहाँ 'निचले' पर्वत पर बसेरा करना जो तुम्हारा सम्पर्क पाकर खिले फूलो वाले कदम्बो से पुलकित-सा लगेगा। उसकी पथरीली कन्दराओ से उठती हुई गणिकाओ के भोग की रत-गन्ध पुर-वासियो के उत्कट यौवन की सूचना देती है।

२६

विश्राम कर लेने पर, वन-नदियो के किनारो पर लगी हुई जूही के उद्यानो मे कलियो को नये जल की बूंदो से सीचना, और जिनके कपोलो पर कानो के कमल पसीना पोछने की बाधा से कुम्हला गए है, ऐसी फूल चुनने वाली स्त्रियों के मुखो पर तनिक छाँह करते हुए पुनः आगे चल पडना।

२५

नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्र विश्रामहेतो-
स्त्वत्सम्पर्कात्पुलकितमिव प्रौढपुष्पैः कदम्बैः।
यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणा-
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि॥

२६

विश्रान्तः सन्व्रज वननदीतीरजालानि सिञ्च-
न्नुद्यानानां नवजलकणैर्यूथिकाजालकानि।
गण्डस्वेदापनयनरुजा क्लान्तकर्णोत्पलानां
छायादानात्क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम्॥

२७

यद्यपि उत्तर दिशा की ओर जाने वाले तुम्हे मार्ग का घुमाव पडेगा, फिर भी उज्जयिनी के महलो की ऊँची अटारियो की गोद मे विलसने से विमुख न होना। बिजली चमकने से चकाचौध हुई वहाँ की नागरी स्त्रियो के नेत्रो की चचल चितवनो का सुख तुमने न लूटा तो समझना कि ठगे गए।

२८

लहरो की थपेड़ो से किलकारी भरते हुए हसो की पक्ति रूपी करधनी झकारती हुई, अटपट बहाव से चाल की मस्ती प्रकट करती हुई, और भँवर रूपी नाभि उघाडकर दिखाती हुई निर्विन्ध्या से मार्ग मे मिलकर उसका रस भीतर लेते हुए छकना।

प्रियतम से स्त्री की पहली प्रार्थना शृ गार-चेष्टाओ द्वारा ही कही जाती है।

२७

वक्र पन्था यदपि भवत प्रस्थितस्योत्तराशां
सौधोत्संगप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्या।
विद्युद्दामस्फुरित चकितैस्तत्र पौरांगनानां
लोलापांगैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि

२८

वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः
संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः।
निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु॥

२९

जिसकी पतली जलधारा वेणी वनी हुई है, और तट के वृक्षो से झडे हुए पुराने पत्तो से जो पीली पड़ी हुई है, अपनी विरह दशा से भी जो प्रवास मे गये तुम्हारे सौभाग्य को प्रकट करती है, हे सुभग, उस निर्विन्ध्या की कृशता जिस उपाय से दूर हो वैसा अवश्य करना।

३०

गाँवो् के वड़े-वूढे जहाँ उदयन की कथाओ मे प्रवीण है, उस अवन्ति देश में पहुँचकर, पहले कही हुई विशाल वैभव वाली उज्जयिनी पुरी को जाना।

सुकर्मो के फल छीजने पर जव स्वर्ग के प्राणी धरती पर वसने आते हैं, तव वचे हुए पुण्य-फलों से साथ मे लाया हुआ स्वर्ग का ही जगमगाता हुआ टुकड़ा मानो उज्जयिनी है।

२९

वेणीभूतप्रतनुसलिलासावतीतस्य सिन्धुः
पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रंशिभिर्जीर्णपर्णैः।
सौभाग्यं ते सुभग ! विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः ॥

३०

प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धा-
न्पूर्वोद्दिष्टामनुसर पुरीं श्री विशालां विशालाम्।
स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम् ॥

३१

जहाँ प्रातःकाल शिप्रा का पवन खिले कमलो की भीनी गन्ध से महमहाता हुआ, सारसो की स्पष्ट मधुर बोली मे चटकारी भरता हुआ, अंगो को सुखद स्पर्श देकर, प्रार्थना के चटोरे प्रियतम की भाँति स्त्रियो के रतिजनित खेद को दूर करता है।

३२

उज्जयिनी मे स्त्रियो के केश सुवासित करने वाली धूप गवाक्ष जालो से बाहर उठती हुई तुम्हारे गात्र को पुष्ट करेगी, और घरो के पालतू मोर भाईचारे के प्रेम से तुम्हे नृत्य का उपहार भेट करेगे। वहाँ फूलो से सुरभित महलो मे सुन्दर स्त्रियो के महावर लगे चरणो की छाप देखते हुए तुम मार्ग की थकान मिटाना।

३१

दीर्घीकुर्वन्पटु मदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमंगानुकूलः
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः॥

३२

जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपै-
र्बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः।
हर्म्येष्वस्याः कुसुमसुरभिष्वध्वखेदं नयेथा
लक्ष्मीं पश्यँल्ललितवनितापादरागाङ्कितेषु॥

३३

अपने स्वामी के नीले कंठ से मिलती हुई शोभा के कारण शिव के गण आदर के साथ तुम्हारी ओर देखेंगे। वहाँ त्रिभुवन-पति चण्डीश्वर के पवित्र धाम में तुम जाना। उसके उपवन के कमलों के पराग से सुगन्धित, एवं जलक्रीड़ा करती हुई युवतियों के स्नानीय द्रव्यों से सुरभित गन्धवती की हवाएँ झकोर रही होंगी।

३४

हे जलधर, यदि महाकाल के मन्दिर में समय से पहले तुम पहुँच जाओ, तो तब तक वहाँ ठहर जाना जब तक सूर्य आँख से ओझल न हो जायँ।

शिव की सन्ध्याकालीन आरती के समय नगाड़े जैसी मधुर ध्वनि करते हुए तुम्हें अपने धीर गम्भीर गर्जनों का पूरा फल प्राप्त होगा।

३३

भर्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः
पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य।
धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्या-
स्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः॥

३४

अप्यन्यस्मिञ्जलधर! महाकालमासाद्य काले
स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः।
कुर्वन्संध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीया-
मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यते गर्जितानाम्॥

३५

वहाँ प्रदोष-नृत्य के समय पैरो की ठुमकन से जिनकी कटिकिंकिणी बज उठती है, और रत्नो की चमक से झिलमिल मूठोंवाली चौरियाँ डुलाने से जिनके हाथ थक जाते हैं, ऐसी वेश्याओ के ऊपर जब तुम सावन के बुन्दाकड़े बरसाकर उनके नखक्षतो को सुख दोगे, तब वे भी भौरो-सी चचल पुतलियो से तुम्हारे ऊपर अपने लम्बे चितवन चलाएँगी।

३६

आरती के पश्चात् आरम्भ होने वाले शिव के ताडव-नृत्य मे तुम, तुरत के खिले जपा पुष्पो की भाँति फूली हुई सध्या की ललाई लिये हुए शरीर से, वहाँ शिव के ऊँचे उठे भुजमंडल रूपी वन-खण्ड को घेरकर छा जाना।

इससे एक ओर तो पशुपति शिव रक्त से भीगा हुआ गजासुर-चर्म ओढने की इच्छा से विरत होगे; दूसरी ओर पार्वती जी उस ग्लानि के मिट जाने से एकटक नेत्रो से तुम्हारी भक्ति की ओर ध्यान देगी।

३५

पादन्यासक्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतै
रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः।
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान्प्राप्य वर्षाग्रबिन्दू-
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान्॥

३६

पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः
सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः।
नृत्यारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां
शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या॥

३७

वहाँ उज्जयिनी मे रात के समय प्रियतम के भवनो को जाती हुई अभिसारिकाओ को जब घुप्त अँधेरे के कारण राज-मार्ग पर कुछ न सूझता हो, तब कसौटी पर कसी कचन-रेखा की तरह चमकती हुई विजली से तुम उनके मार्ग में उजाला कर देना। वृष्टि और गर्जन करते हुए घेरना मत, क्योकि वे बेचारी डरपोक होती है।

३८

देर तक बिलसने से जब तुम्हारी बिजली रूपी प्रियतमा थक जाए, तो तुम वह रात्रि किसी महल की अटारी में जहा कबूतर सोते हो बिताना। फिर सूर्योदय होने पर शेप रहा मार्ग भी तय करना। मित्रो का प्रयोजन पूरा करने के लिए जो किसी काम को ओढ़ लेते है, वे फिर उसमे ढील नही करते।

३७

गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र नक्तं
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः।
सौदामन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वी
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा स्म भूर्विक्लवास्ताः॥

३८

तां कस्यांचिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायां
नीत्वा रात्रिं चिरविलसिनात्खिन्नविद्युत्कलत्रः।
दृष्टे सूर्ये पुनरपि भवान्वाहयेदध्वशेषं
मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः॥

३९

रात्रि मे विछोह सहने वाली खडिता नायिकाओ के आँसू सूर्योदय की वेला मे उनके प्रियतम पोछा करते है, इसलिए तुम शीघ्र सूर्य का मार्ग छोडकर हट जाना, क्योकि सूर्य भी कमलिनी के पकजमुख से ओस रूपी आँसू पोछने के लिए लौटे होगे। तुम्हारे द्वारा हाथ रोके जाने पर उनका रोप वढेगा।

४०

गम्भीरा के चित्तरूपी निर्मल जल मे तुम्हारे सहज सुन्दर शरीर का प्रतिविम्व पडेगा ही। फिर कही ऐसा न हो कि तुम उसके कमल-से श्वेत और उछलती शफरी से चंचल चितवनो की ओर अपने धीरज के कारण ध्यान न देते हुए उन्हे विफल कर दो।

३९

तस्मिन्काले नयनसलिलं योषितां खण्डिताना
शान्ति नेयं प्रणयिभिरतो वर्त्म भानोस्त्यजाशु।
प्रालेयास्त्रं कमलवदनात्सोऽपि हर्तुं नलिन्याः॥
प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूय॥

४०

गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने
छायात्मापि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम्।
तस्यादस्याः कुमुदविशदान्यर्हसि त्वं न धैर्या-
न्मोधीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि॥

४१

हे मेघ, गम्भीरा के तट से हटा हुआ नीला जल, जिसे वेंत अपनी झुकी हुई डालो से छूते है, ऐसा जान पडेगा मानो नितम्ब से सरका हुआ वस्त्र उसने अपने हाथो से पकड़ रक्खा है।

हे मित्र, उसे सरकाकर उसके ऊपर लम्वे-लम्वे झुके हुए तुम्हारा वहा से हटना कठिन ही होगा, क्योकि स्वाद जानने वाला कौन ऐसा है जो उघडे हुए जघन भाग का त्याग कर सके।

४२

हे मेघ, तुम्हारी झडी पड़ने से भपारा छोड़ती हुई भूमि की उत्कट गन्ध के स्पर्श से जो सुरभित है, अपनी सूंडों के नथुनो मे सुहावनी ध्वनि करते हुए हाथी जिसका पान करते है, और जंगली गूलर जिसके कारण गदरा गए है, ऐसा शीतल वायु देवगिरि जाने के इच्छुक तुमको मन्द-मन्द थपकियाँ देकर प्रेरित करेगा।

४१

तस्याः किंचित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं
नीत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधोनितम्वम्।
प्रस्थानं ते कथमपि सखे! लम्वमानस्य भावि
ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः॥

४२

त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसंपर्करम्यः
स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगं दन्तिभि. पीयमानः।
नीचैर्वास्यत्युपजिगमिषोर्देवपूर्वं गिरिं ते
शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्वराणाम्॥

४३

हे मेघ, अपने शरीर को पुष्प-वर्षी बनाकर आकाशगंगा के जल में भीगे हुए फूलो की बौछारो से वहाँ देवगिरि पर सदा बसने वाले स्कन्द को तुम स्नान कराना। नवीन चन्द्रमा मस्तक पर धारण करने वाले भगवान् शिव ने देवसेनाओ की रक्षा के लिए सूर्य से भी अधिक जिस तेज को अग्नि के मुख मे क्रमश. सचित किया था, वही स्कन्द है।

४४

पश्चात्, उस पर्वत की कन्दराओ मे गूंजकर फैलने वाले अपने गर्जित शब्दो से कार्तिकेय के उस मोर को नचाना जिसकी आँखो के कोये शिव के चन्द्रमा की चादनी-से धवलित्त हैं। उसके छोड़े हुए पँच को, जिस पर चमकती रेखाओ के चन्दक बने है, पार्वती जी पुत्र-स्नेह के वशीभूत हो कमल पत्र की जगह अपने कान मे पहनती है।

४३

तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगङ्गाजलार्द्रैः।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूना-
मत्यादित्य हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः॥

४४

ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी
पुत्रप्रेम्णा कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति।
धौतापाङ्गं हरशशिरुचा पावकेस्तं मयूरं
पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः॥

४५

सरकडो के वन मे जन्म लेने वाले स्कन्द की आराधना से निवृत्त होने के बाद तुम, जब वीणा हाथ मे लिये हुए सिद्ध दम्पती बूंदो के डर से मार्ग छोडकर हट जावें, तब आगे बढ़ना, और चर्मण्वती नदी के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए नीचे उतरना। गोमेध से उत्पन्न हुई राजा रन्तिदेव की कीर्ति ही उस जलधारा के रूप में पृथ्वी पर वह निकली है।

४६

हे मेघ, विष्णु के समान श्यामवर्ण तुम जब चर्मण्वती का जल पीने के लिए झुकोगे, तब उसके चौड़े प्रवाह को, जो दूर से पतला दिखाई पड़ता है, आकाशचारी सिद्ध-गन्धर्व एकटक दृष्टि से निश्चय देखने लगेंगे, मानो पृथ्वी के वक्ष पर मोतियों का हार हो जिसके बीच मे इन्द्र नील का मोटा मनका पिरोया गया है।

४५

आराध्यैनं शरवणभवं देवमुल्लङ्घिताध्वा
सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद्वीणिभिर्मुक्तमार्गः।
व्यालम्बेथाः सुरभितनयालम्भजां मानयिष्यन्
स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम्॥

४६

त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे
तस्याः सिन्धोः पृथुमपि तनुं दूरभावात्प्रवाहम्।
प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्य दृष्टी-
रेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम्॥

४७

उस नदी को पार करके अपने शरीर को दशपुर की स्त्रियों के नेत्रों की लालसा का पात्र बनाते हुए आगे जाना। भौंहें चलाने में अभ्यस्त उनके नेत्र जब बरौनी ऊपर उठती हैं तब श्वेत और श्याम प्रभा के बाहर छिटकने से ऐसे लगते हैं, मानो वायु से हिलते हुए कुन्द पुष्पों के पीछे जाने वाले भौंरों की शोभा उन्होंने चुरा ली हो।

४८

उसके बाद ब्रह्मावर्त जनपद के ऊपर अपनी परछाईं डालते हुए क्षत्रियों के विनाश की सूचक कुरुक्षेत्र की उस भूमि में जाना जहाँ गांडीवधारी अर्जुन ने अपने चोखे बाणों की वर्षा से राजाओं के मुखों पर ऐसी झड़ी लगा दी थी जैसी तुम मूसलाधार मेह बरसाकर कमलों के ऊपर करते हो।

४७

तामुत्तीर्य व्रज परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां
पक्ष्मोत्क्षेपादुपरिविलसत्कृष्णशारप्रभाणाम् ।
कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषामात्मबिम्बं
पात्रीकुर्वन्दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम् ॥

४८

ब्रह्मावर्तं जनपदमथ च्छायया गाहमानः
क्षेत्रं क्षत्रप्रधनपिशुनं कौरवं तद्भजेथाः ।
राजन्यानां शितशरशतैर्यत्र गाण्डीवधन्वा
धारापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्यवर्षन्मुखानि ॥

४९

कौरवो और पाडवो के प्रति समान स्नेह के कारण युद्ध से मुँह मोडकर वलराम जी मन-चाहते स्वाद वाली उस हाला को जिसे रेवती अपने नेत्रो की परछाई डालकर स्वय पिलाती थी, छोड़कर सरस्वती के जिन जलो का सेवन करने के लिए चले गए थे, तुम भी जव उनका पान करोगे, तो अन्त करण से शुद्ध बन जाओगे, केवल बाहरी रग ही साँवला दिखाई देगा।

५०

वहाँ से आगे कनखल मे शैलराज हिमवन्त से नीचे उतरती हुई गगाजी के समीप जाना, जो सगर के पुत्रो का उद्धार करने के लिए स्वर्ग तक लगी हुई सीढी की भाँति है।

पार्वती के भौहे ताने हुए मुँह की ओर मानो अपने फेनो की मुसकान फेककर वे गंगा जी अपने तरग रूपी हाथो से चन्द्रमा के साथ अठखेलियाँ करती हुई शिव के केश पकड़े हुए हैं।

४९

हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्कां
बन्धुप्रीत्या समरविमुखो लाङ्गली याः सिषेवे।
कृत्वा तासामभिगममपां सौम्य ! सारस्वतीना-
मन्तःशुद्धस्त्वमपि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः॥

५०

तस्माद्गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां
जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम्।
गौरीवक्त्रभ्रुकुटिरचनां या विहस्येव फेनैः
शंभोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता॥

५१

आकाश में दिशाओं के हाथी की भाँति पिछले भाग से लटकते हुए जब तुम आगे की ओर झुककर गंगा जी के स्वच्छ बिल्लौर जैसे निर्मल जल को पीना चाहोगे, तो प्रवाह में पड़ती हुई तुम्हारी छाया से वह धारा ऐसी सुहावनी लगेगी जैसे प्रयाग से अन्यत्र यमुना उसमे आ मिली हो।

५२

वहाँ आकर बैठने वाले कस्तूरी मृगों के नाफे की गंध से जिसकी शिलाएँ महकती हैं, उस हिम-धवलित पर्वत पर पहुँचकर जब तुम उसकी चोटी पर मार्ग की थकावट मिटाने के लिए बैठोगे, तब तुम्हारी शोभा ऐसी जान पड़ेगी मानो शिव के गोरे नन्दी ने गीली मिट्टी खोद कर सींगों पर उछाल ली हो।

५१

तस्याः पातुं सुरगज इव व्योम्नि पश्चार्धलम्बी
त्वं चेदच्छस्फटिकविशदं तर्कयेस्तिर्यगम्भः।
संसर्पन्त्या सपदि भवतः स्रोतसि च्छाययासौ
स्यादस्थानोपगतयमुनासंगमेवाभिरामा ॥

५२

आसीनानां सुरभितशिलं नाभिगन्धैर्मृगाणां
तस्या एवं प्रभवमचलं प्राप्य गौरं तुषारैः।
वक्ष्यस्यध्वश्रमविनयने तस्य शृंगे निषण्णः
शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम् ॥

५३

जगली हवा चलने पर देवदारु के तनो की रगड से उत्पन्न दावाग्नि, जिसकी चिंगारियो से चौरी गायो की पूँछ के बाल झुलस जाते है, यदि उस पर्वत को जला रही हो, तो तुम अपनी असख्य जल-धाराओ से उसे शान्त करना। श्रेष्ठ पुरुषो की सम्पत्ति का यही फल है कि दु खी प्राणियो के दुःख उससे दूर हो।

५४

यदि वहाँ हिमालय मे कुपित होकर वेग से उछलते हुए शरभ मृग, उनके मार्ग से अलग विचरने वाले तुम्हारी ओर, सपाटे से कूदकर अपना अग-भग करने पर उतारू हो, तो तुम भी तडातड ओले बरसाकर उन्हे दल देना। व्यर्थ के कामो मे हाथ डालने वाला कौन ऐसा है जो नीचा नही देखता ?

५३

तं चेद्वायौ सरति सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा
बाधेतोल्काक्षपितचमरीबालभारो दवाग्निः।
अर्हस्येनं शतयितुमलं वारिधारासहस्रै-
रापन्नार्तिप्रशमनफलाः संपदो ह्युत्तमानाम्॥

५४

ये सरम्भोत्पतनरभसाः स्वाङ्गभङ्गाय तस्मि-
न्मुक्ताध्वानं सपदि शरभा लङ्घयेयुर्भवन्तम्।
तान्कुर्वीथास्तुमुलकरकावृष्टिपातावकीर्णान्
के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः॥

५५

वहाँ चट्टान पर शिवजी के पैरो की छाप बनी है। सिद्ध लोग सदा उस पर पूजा की सामग्री चढाते हैं। तुम भी भक्ति से झुककर उसकी प्रदक्षिणा करना। उसके दर्शन से पाप के कट जाने पर श्रद्धावान् लोग शरीर त्यागने के बाद सदा के लिए गणो का पद प्राप्त करने मे समर्थ होते हैं।

५६

वहाँ पर हवाओ के भरने से सूखे बाँस बजते है, और किन्नरियाँ उनके साथ कठ मिलाकर शिव की त्रिपुर-विजय के गान गाती हैं। यदि कन्दराओ मे गूँजता हुआ तुम्हारा गर्जन मृदंग से निकलती हुई ध्वनि की तरह उसमे मिल गया, तो शिव की पूजा के संगीत का पूरा ठाट जम जाएगा।

५५

तत्र व्यक्तं दृषदि चरणन्यासमर्धेन्दुमौले
शश्वत्सिद्धैरुपचितबलिं भक्तिनम्रः परीयाः।
यस्मिन्दृष्टे करणविगमादूर्ध्वमुद्धूतपापाः
संकल्पन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्दधानाः॥

५६

शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः
संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किंनरीभिः।
निर्ह्रादस्ते मुरज इव चेत्कन्दरेषु ध्वनिः स्या-
त्संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः॥

५७

हिमालय के बाहरी अचल मे उन-उन दृश्यो को देखते हुए तुम आगे बढना। वहाँ क्रौच पर्वत मे हसो के आवागमन का द्वार वह रन्ध्र है जिसे परशुराम ने पहाड़ फोड़कर बनाया था। वह उनके यश का स्मृति-चिह्न है। उसके भीतर कुछ झुककर लम्बे प्रवेश करते हुए तुम ऐसे लगोगे जैसे बलि-बन्धन के समय उठा हुआ त्रिविक्रम विष्णु का सावला चरण सुशोभित हुआ था।

५८

वहाँ से आगे बढ़कर कैलास पर्वत के अतिथि होना जो अपनी शुभ्रता के कारण देवागणनाओ के लिए दर्पण के समान है। उसकी धारो के जोड रावण की भुजाओ से झड़झड़ाए जाने के कारण ढीले पड़ गए है। वह कुमुद के पुष्प जैसी श्वेत बर्फीली चोटियो की ऊँचाई से आकाश को छाए हुए ऐसे खडा है मानो शिव के प्रतिदिन के अट्टहास का ढेर लग गया है।

५७

प्रालेयाद्रेरुपतटमतिक्रम्य तांस्तान्विशेषान्
हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौन्चरन्ध्रम्।
तेनोदीचीं दिशमनुसरेस्तिर्यगायामशोभी
श्यामः पादो बलिनियमनाभ्युद्यतस्येव विष्णोः॥

५८

गत्वा चोर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसंधेः
कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्याः।
शृङ्गोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खं
राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः॥

५६

हे मेघ, चिकने घुटे हुए अंजन की शोभा से युक्त तुम जब उस कैलास पर्वत के ढाल पर घिर आओगे, जो हाथी दाँत के तुरन्त कटे हुए टुकडे की तरह धवल है, तो तुम्हारी शोभा आँखो से ऐसी एकटक देखने योग्य होगी मानो कन्धे पर नीला वस्त्र डाले हुए गोरे बलराम हो।

६०

जिस पर लिपटा हुआ सर्परूपी कगन उतारकर रख दिया गया है, शिव के ऐसे हाथ मे अपना हाथ दिये यदि पार्वती जी उस क्रीड़ा पर्वत पर पैदल घूमती हो, तो तुम उनके आगे जाकर अपने जलो को भीतर ही बर्फ रूप मे रोके हुए अपने शरीर से नीचे-ऊँचे खड सजाकर सोपान बना देना जिससे वे तुम्हारे ऊपर पैर रखकर मणितट पर आरोहण कर सके।

५६

उत्पश्यामि त्वयि तटगते स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे
सद्यःकृत्तद्विरददशनच्छेदगौरस्य तस्य।
शोभामद्रेः स्तिमितनयनप्रेक्षणीयां भवित्री-
मंसन्यस्ते सति हलभृतो मेचके वाससीव॥

६०

हित्वा तस्मिन्भुजगवलयं शंभुना दत्तहस्ता
क्रीडाशैले यदि च विचरेत्पादचारेण गौरी।
भङ्गीभक्त्या विरचितवपुः स्तम्भितान्तर्जलौघः
सोपानत्वं कुरु मणितटारोहणायाग्रयायी॥

६१

वहाँ कैलास पर सुर-युवतियाँ जडाऊ कगन मे लगे हुए हीरो की चोट से वर्फ के वाहरी आवरण को छेदकर जल की फुहारे उत्पन्न करके तुम्हारा फुहारा बना लेंगी। हे सखे, धूप मे तुम्हारे साथ जल क्रीड़ा में निरत उनसे यदि तुम शीघ्र न छूट सको तो अपने कर्णभेदी गर्जन से उन्हे डरपा देना।

६२

हे मेघ, अपने मित्र कैलास पर नाना भाँति की ललित क्रीडाओ से मन वहलाना। कभी सुनहरे कमलों से भरा हुआ मानसरोवर का जल पीना; कभी इन्द्र के अनुचर अपने सखा ऐरावत के मुँह पर क्षण-भर के लिए कपडा-सा झाँपकर उसे प्रसन्न करना; और कभी कल्पवृक्ष के पत्तो को अपनी हवाओ से ऐसे झकझोरना जैसे हाथो में रेशमी महीन दुपट्टा लेकर नृत्य के समय करते हैं।

६१

तत्रावश्यं वलयकुलिशोद्घट्टनोद्गीर्णतोयं
नेष्यन्ति त्वां सुरयुवतयो यन्त्रधारागृहत्वम्।
ताभ्यो मोक्षस्तव यदि सखे ! घर्मलब्धस्य न स्यात्
क्रीडालोला. श्रवणपरुषैर्गर्जितैर्भाययेस्ताः॥

६२

हेमाम्भोजप्रसवि सलिलं मानसस्याददान:
कुर्वन्कामं क्षणमुखपटप्रीतिमैरावतस्य।
धुन्वन्कल्पद्रुमकिसलयान्यंशुकानीव वातै-
र्नानाचेष्टैर्जलद ! ललितैर्निर्विशे तं नगेन्द्रम्॥

६३

हे कामचारी मेघ, जिसकी गंगारूपी साड़ी सरक गई है ऐसी उस अलका को प्रेमी कैलास की गोद मे बैठी देखकर तुम न पहचान सको, ऐसा नही हो सकता। बरसात के दिनो मे उसके ऊँचे महलों पर जब तुम छा जाओगे तब तुम्हारे जल की झड़ी से वह ऐसी सुहावनी लगेगी जैसे मोतियो के जालो से गुँथे हुए घुँघराले केशो वाली कोई कामिनी हो।

६३

तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रोतगङ्गादुकूलां
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारीन्!
या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम्॥

उत्तरमेघ

१

अलका के महल अपने इन-इन गुणो से तुम्हारी होड़ करेगे। तुम्हारे पास विजली है तो उनमें छबीली स्त्रियाँ है। तुम्हारे पास रगीला इन्द्र-धनुष है तो उनमे चित्र लिखे है। तुम्हारे पास मधुर गभीर गर्जन है तो उनमे सगीत के लिए मृदंग ठनकते है। तुम्हारे भीतर जल भरा है, तो उनमे मणियो से बने हुए चमकीले फर्श है। तुम आकाश में ऊँचे उठे हो तो वे गगनचुम्वी है।

२

वहाँ अलका की वधुएँ षड्ऋतुओ के फूलो से अपना शृगार करती है। शरद मे कमल उनके हाथो के लीलारविन्द है। हेमन्त मे टटके वालकुन्द उनके घुँघराले वालो मे गूँथे जाते है। शिशिर मे लोध्र पुष्पों का पीला पराग वे मुख की शोभा के लिए लगाती है। वसन्त मे कुरबक के नये फूलो से अपना जूडा सजाती है। गर्मी मे सिरस के सुन्दर फूलो को कान मे पिरोती है। और तुम्हारे पहुचने पर वर्षा मे जो कदम्ब पुष्प खिलते है उन्हें माँग मे सजाती है।

१

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः॥

२

हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं
नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्री।
चूडापाशे नवकुरवकं चारु कर्णे शिरीषं
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम्॥

३

वहाँ पत्थर से बने हुए महलों के उन अट्टों पर जिनमे तारों की परछाईं फूलों-सी झिलमिल होती है, यक्ष ललितांगनाओं के साथ विराजते है। तुम्हारे जैसी गम्भीर ध्वनि वाले पुष्कर वाद्य जब मन्द-मन्द बजते है, तब वे दम्पती कल्प वृक्ष से इच्छानुसार प्राप्त रतिफल नामक मधु का पान करते है।

४

देवता जिन्हे चाहते है, ऐसी रूपवती कन्याएँ अलका मे मन्दाकिनी के जल से शीतल बनी पवनो का सेवन करती हुई, और नदी किनारे के मन्दारों की छाया मे अपने-आपको धूप से बचाती हुई, सुनहरी बालू की मूठें मारकर मणियो को पहले छिपा देती है और फिर उन्हे ढूँढ निकालने का खेल खेलती है।

३

यस्यां यक्षाः सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि
ज्योतिश्छायाकुसुमरचितान्युत्तमस्त्रीसहायाः।
आसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं
त्वद्गम्भीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु॥

४

मन्दाकिन्याः सलिलशिशिरैः सेव्यमाना मरुद्भि-
र्मन्दाराणामनुतटरुहां छायया वारितोष्णाः।
अन्वेष्टव्यै. कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपगूढैः
संक्रीडन्ते मणिभिरमरप्रार्थिता यत्र कन्याः॥

५

वहाँ अलका मे कामी प्रियतम अपने चंचल हाथो से लाल अधरो वाली स्त्रियो के नीवी वन्धनो के तडक जाने से ढीले पडे हुए दुकूलो को जव खीचने लगते है, तो लज्जा मे डूबी हुई वे विचारी किरणे छिटकाते हुए रत्नदीपो को सामने रखे होने पर भी कुकुम की मूठी से वुझाने मे सफल नही होती ।

६

उस अलका के सतखडे महलो की ऊँची अटरियो मे वेरोकटोक जानेवाले वायु की प्रेरणा मे प्रवेश पाकर तुम्हारे जैसे मेह वाले वादल अपने नये जल-कणो से भित्तिचित्रो को विगाडकर अपराधी की भाँति डरे हुए, झरोखो से धुएँ की तरह निकल भागने मे चालाक, जर्जर होकर वाहर आते है ।

५

नीवीवन्धोच्छ्‌वसितशिथिलं यत्र विम्वाधराणां
क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु ।
अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्तरत्नप्रदीपान्
ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः ॥

६

नेत्रा नीताः सततगतिना यद्विमानाग्रभूमी-
रालेख्यानां नवजलकणैर्दोषमुत्पाद्यसद्य. ।
शङ्कास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादृशा. जालमार्गै-
र्धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति ॥

७

वहाँ अलका मे आधी रात के समय जब तुम बीच मे नही होते तब चन्द्रमा की निर्मल किरणे झालरो मे लटकी हुई चन्द्रकान्त मणियो पर पडती है, जिससे वे भी जल-बिन्दुओ की फुहार चुआने लगती है और प्रियतमो के गाढ भुजालिगन से शिथिल हुई कामिनियो के अगों की रतिजनित थकान को मिटाती है।

८

वहां अलका मे कामी जन अपने महलो के भीतर अखूट धन राशि रखे हुए सुरसुन्दरी वारागनाओ से प्रेमालाप मे मग्न होकर प्रतिदिन, सुरीले कठ से कुबेर का यश गाने वाले किन्नरो के साथ, चित्ररथ नामक बाहरी उद्यान मे विहार करते है।

७

यत्र स्त्रीणां प्रियतमभुजालिङ्गनोच्छ्वासिताना-
मङ्गग्लानिं सुरतजनितां तन्तुजालावलम्बा
त्वत्संरोधापगमविशदैश्चन्द्रपादैर्निशीथे
व्यालुम्पन्ति स्फुटजललवस्यन्दिनश्चन्द्रकान्ताः ॥

८

अक्षय्यान्तर्भवननिधयः प्रत्यहं रक्तकण्ठै-
रुद्गायद्भिर्धनपतियशः किंनरैर्यत्र सार्धम् ।
वैभ्राजाख्यं बिबुधवनितावारमुख्यासहाया
बद्धालापा बहिरुपवनं कामिनो निर्विशन्ति ॥

९

वहाँ अलका मे प्रात. सूर्योदय के समय कामिनियो के रात मे अभिसार करने का मार्ग चाल की दलक के कारण घुँघराले केशों से सरके हुए मन्दार फूलो से, कानो से गिरे हुए सुनहरे कमलो के पत्तेदार झुमकों से, वालो में गुँथे मोतियो के विखरे हुए जालो से, और उरोजो पर लटकने वाले हारों के टूटकर गिर जाने से पहचाना जाता है।

१०

वहाँ अलका में कुबेर के मित्र शिवजी को साक्षात् वसता हुआ जानकर कामदेव भौरें की प्रत्यंच वाले अपने धनुप पर वाण चढाने से प्राय. डरता है।

कामीजनो को जीतने का उसका मनोरथ तो नागरी स्त्रियो की लीलाओ से ही पूरा हो जाता है, जव वे भौहे तिरछी करके अपने कटाक्ष छोड़ती है जो कामीजनो मे अचूक निशाने पर वैठते है।

९

गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मन्दारपुष्पैः
पत्रच्छेदैः कनककमलैः कर्णविभ्रंशिभिश्च ।
मुक्ताजालैः स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैश्च हारै-
र्नैशोमार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम् ॥

१०

मत्वा देवं धनपतिसखं यत्र साक्षाद्वसन्तं
प्रायश्चापं न वहति भयान्मन्मथः षट्पदज्यम् ।
सभ्रूभङ्गप्रहितनयनैः कामिलक्ष्येष्वमोघै-
स्तस्यारम्भश्चतुरवनिताविभ्रमैरेव सिद्धः ॥

११

वहाँ अलका मे पहनने के लिए रगीन वस्त्र, नयनो मे चंचलता लाने के लिए चटक मधु, शरीर सजाने के लिए पुष्प-किसलय और भाँति-भाँति के गहने, चरणकमल रगने के लिए महावर—यह सब स्त्रियो की शृगार-सामग्री अकेला कल्पवृक्ष ही उत्पन्न कर देता है।

१२

उस अलका मे कुवेर के भवन से उत्तर की ओर मेरा घर है, जो सुन्दर इन्द्रधनुष के समान तोरण से दूर से पहचाना जाता है। उस घर के एक ओर मन्दार का बाल वृक्ष है जिसे मेरी पत्नी ने पुत्र की तरह पोसा है और जो हाथ बढाकर चुन लेने योग्य फूलो के गुच्छो से झुका हुआ है।

११

वासश्चित्रं मधु नयनयोर्विभ्रमादेशदक्षं
पुष्पोद्भेदं सह किसलयैर्भूषणानां विकल्पान्।
लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यं च यस्या-
मेकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः॥

१२

तत्रागारं धनपतिगृहानुत्तरेणास्मदीयं
दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन।
यस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे
हस्तप्राप्यस्तवकनमितो बालमन्दारवृक्षः॥

१३

मेरे उस घर मे एक बावड़ी है, जिसमे उतरने की सीढ़ियों पर पन्ने की सिले जड़ी है और जिसमे बिल्लौर की चिकनी नालो वाले खिले हुए सोने के कमल भरे है। सब दुःख भुलाकर उसके जल मे बसे हुए हस तुम्हारे आ जाने पर भी पास मे सुगम मानसरोवर मे जाने की उत्कंठा नही दिखाते।

१४

उस बावडी के किनारे एक क्रीडा-पर्वत है। उसकी चोटी सुन्दर इन्द्र नील मणियो के जड़ाव से बनी है; उसके चारों ओर सुनहले कदली वृक्षो का कटहरा देखने योग्य है।

हे मित्र, चारों ओर घिरकर बिजली चमकाते हुए तुम्हे देखकर डरपा हुआ मेरा मन अपनी गृहिणी के प्यारे उस पर्वत को ही याद करने लगता है।

१३

वापी चास्मिन्मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा
हैमैश्छन्ना विकचकमलैः स्निग्धवैदूर्यनालैः।
यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं संनिकृष्टं
नाध्यास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य हंसा॥

१४

तस्यास्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः
क्रीडाशैलः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः।
मद्गेहिन्याः प्रिय इति सखे! चेतसा कातरेण
प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं त्वां तमेव स्मरामि॥

१५

उस क्रीडा-शैल मे कुरवक की वाढ से घिरा हुआ मोतिये का मडप है, जिसके पास एक ओर चचल पल्लवो वाला लाल फूलों का अशोक है और दूसरी ओर सुन्दर मौलसिरी है। उनमे से पहला मेरी तरह ही दोहद के वहाने तुम्हारी सखी के वाँये पैर का आघात चाहता है, और दूसरा (वकुल) उसके मुख से मदिरा की फुहार का इच्छुक है।

१६

उन दो वृक्षो के वीच मे सोने की वनी हुई वसेरा लेने की छतरी है जिसके सिरे पर विल्लौर का फलक लगा है, और मूल मे नये वाँस के समान हरे चोखे रंग की मरकत मणियाँ जडी है।

मेरी प्रियतमा हाथो मे वजते कगन पहने हुए सुन्दर ताल दे-देकर जिसे नचाती है, वह तुम्हारा प्रियसखा नीले कठ वाला मोर संध्या के समय उस छतरी पर वैठता है।

१५

रक्ताशोकश्चलकिसलयः केसरश्चात्र कान्तः
प्रत्यासन्नौ कुरवकवृतेर्माधवीमण्डपस्य।
एकः सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी
काङ्क्षत्वन्यो वदनमदिरां दोहदच्छद्मनास्याः॥

१६

तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टि-
र्मूले वद्धा मणिभिरनतिप्रौढवंशप्रकाशैः।
तालैः शिञ्जावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः॥

१७

हे चतुर, ऊपर बताए हुए इन लक्षणों को हृदय मे रखकर, तथा द्वार के शाखा-स्तभो पर बनी हुई शंख और कमल की आकृति देखकर तुम मेरे घर को पहचान लोगे, यद्यपि इस समय मेरे वियोग मे वह अवश्य छविहीन पड़ा होगा।

सूर्य के अभाव मे कमल कभी अपनी पूरी शोभा नही दिखा पाता।

१८

हे मेघ, सपाटे के साथ नीचे उतरने के लिए तुम शीघ्र ही मकुने हाथी के समान रूप बनाकर ऊपर कहे हुए क्रीडा-पर्वत के सुन्दर शिखर पर बैठना। फिर जुगनुओं की भाँति लौकती हुई, और टिमटिमाते प्रकाशवाली अपनी बिजली रूपी दृष्टि महल के भीतर डालना।

१७

एभिः साधो ! हृदयनिहितैर्लक्षणैर्लक्षयेथा
द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शङ्खपद्मौ च दृष्ट्वा।
क्षामच्छायं भवनमधुना मद्वियोगेन नूनं
सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम् ॥

१८

गत्वा सद्यः कलभतनुतां शीघ्रसंपातहेतोः
क्रीडाशैले 'प्रथमकथिते रम्यसानौ निषण्णः।
अर्हस्यन्तर्भवनपतितां कर्तुमल्पाल्पभासं
खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम् ॥

१९

देह की छरहरी, उठते हुए यौवन वाली, नुकीले दाँतो वाली, पके कुंदुरू-से लाल अधर वाली, कटि की क्षीण, चकित हिरनी की चितवन वाली, गहरी नाभि वाली श्रोणी-भार से चलने मे अलसाती हुई, स्तनो के भार से कुछ झुकी हुई—ऐसी मेरी पत्नी वहाँ अलका की युवतियो मे मानो ब्रह्मा की पहली कृति है।

२०

मेरे दूर चले आने के कारण अपने साथी से बिछड़ी हुई उस प्रिततमा को तुम मेरा दूसरा प्राण ही समझो। मुझे लगता है कि विरह की गाढ़ी वेदना से सताई हुई वह बाला वियोग के कारण बोझल बने इन दिनो मे कुछ ऐसी हो गई होगी जैसे पाले की मारी कमलिनी और तरह की हो जाती है।

१९

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः॥

२०

तां जानीथा परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमवैकाम्।
गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम्॥

२१

लगातार रोने से जिसके नेत्र सूज गए है, गर्म साँसों से जिसके निचले होठ का रंग फीका पड गया है, ऐसी उस प्रियतमा का हथेली पर रखा हुआ मुख, जो शृंगार के अभाव मे केशो के लटक आने से पूरा न दीखता होगा, ऐसा मलिन ज्ञात होगा जैसे तुम्हारे द्वारा ढँक जाने पर चन्द्रमा कान्तिहीन हो जाता है ।

२२

हे मेघ, वह मेरी पत्नी या तो देवताओ की पूजा मे लगी हुई दिखाई पड़ेगी, या विरह मे क्षीण मेरी आकृति का अपने मनोभावो के अनुसार चित्र लिखती होगी, या पिंजड़े की मैना से मीठे स्वर मे पूछती होगी—'ओ रसिया, तुझे भी क्या वे स्वामी याद आते है ? तू तो उनकी दुलारी थी ।'

२१

नून तस्याः प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं प्रियाया
निःश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम् ।
हस्तन्यस्त मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वा-
दिन्दोर्दैन्य त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति ।।

२२

आलोके ते निपतति पुरा सा वलिव्याकुला वा
मत्सादृश्य विरहतनु वा भावगम्य लिखन्ती ।
पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके ! त्व हि तस्य प्रियेति ।।

२३

हे सौम्य, फिर मलिन वस्त्र पहने हुए गोद मे वीणा रखकर नेत्रो के जल से भीगे हुए तन्तुओ को किसी तरह ठीकठाक करके मेरे नामाकित पद को गाने की इच्छा से सगीत मे प्रवृत्त वह अपनी बनाई हुई स्वर-विधि को भी भूलती हुई दिखाई पडेगी।

२४

वियोगिनी की काम दशा, सकल्प—

अथवा, एक वर्ष के लिए निश्चित मेरे वियोग की अवधि के कितने मास अब शेष बचे है, इसकी गिनती के लिए देहली पर चढाए पूजा के फूलो को उठा-उठाकर भूमि पर रख रही होगी। या फिर भाँति-भाँति के रति सुखो को मन मे सोचती हुई मेरे मिलने का रस चखती होगी।

प्राय: स्वामी के विरह मे वियोगिनी स्त्रिया इसी प्रकार अपना मन-बहलाव किया करती है।

२३

उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य ! निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपद गेयमुद्गातुकामा।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचि-
द्भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती॥

२४

शेषान्मासान्विरहदिवसस्थापितस्यावधेर्वा
विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीदत्तपुष्पैः।
मत्सङ्गं वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती
प्रायेणैते रमणविरहेष्वङ्गनानां विनोदाः॥

२५

चित्र-लेखन या वीणा बजाने आदि मे व्यस्त उसे दिन मे तो मेरा वियोग वैसा न सताएगा, पर मैं सोचता हूँ कि रात मे मन-बहलाव के साधन न रहने से वह तेरी सखी भारी शोक मे डूब जायगी।

अतएव आधी रात के समय जब वह भूमि पर सोने का व्रत लिये हुए उचटी नीद से लेटी हो, तब मेरे सन्देश से उस पतिव्रता को भरपूर सुख देने के लिए तुम महल की गोख मे बैठकर उसके दर्शन करना।

२६

मानसिक संताप के कारण तन-क्षीण बनी हुई वह उस विरह-शय्या पर एक करवट से लेटी होगी, मानो प्राची दिशा के क्षितिज पर चन्द्रमा की केवल एक कोर बची हो।

जो रात्रि किसी समय मेरे साथ मनचाहा विलास करते हुए एक-क्षण-सी बीत जाती थी, वही विरह मे पहाड बनी हुई गर्म-गर्म आँसुओं के साथ किसी-किसी तरह बीतती होगी।

२५

सव्यापारामहनि न तथा पीडयेन्मद्वियोगः
शङ्के रात्रौ गुरुतरशुचं निर्विनोदां सखीं ते।
मत्संदेशैः सुखयितुमलं पश्य साध्वी निशीथे
तामुन्निद्रामवनिशयनां सौधवातायनस्थः ॥

२६

आधिक्षामां विरहशयने संनिषण्णैकपार्श्वां
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः।
नीता रात्रिः क्षण इव मया सार्धमिच्छारतैर्या
तामेवोष्णैर्विरहमहतीमश्रुभिर्यापयन्तीम् ॥

२७

जाली में से भीतर आती हुई चन्द्रमा की किरणों को परिचित स्नेह से देखने के लिए उसके नेत्र बढ़ते हैं, पर तत्काल लौट आते हैं। तब वह उन्हें आंसुओं से भरी हुई दूभर पलकों से ऐसे ढक लेती है, जैसे धूप में खिलने वाली भू-कमलिनी मेह-बूंदी के दिन न पूरी तरह खिल सकती है, न कुम्हलाती ही है।

२८

रूखे स्नान के कारण खुरखुरी एक घुंघराली लट अवश्य उसके गाल तक लटक आई होगी। अधर पल्लव को झुलसाने वाली गर्म-गर्म सांस का झोंका उसे हटा रहा होगा। किसी प्रकार स्वप्न में ही मेरे साथ रमण का सुख मिल जाय, इसलिए वह नींद की चाह करती होगी। पर हा! आंखों में आंसुओं के उमड़ने से नेत्रों में नींद की जगह भी वहां रुंध गई होगी।

२७

पादानिन्दोरमृतशिशिराञ्जालमार्गप्रविष्टान्
पूर्वप्रीत्या गतमभिमुखं संनिवृत्तं तथैव।
चक्षुः खेदात्सलिलगुरुभिः पक्ष्मभिश्छादयन्तीं
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनीं न प्रबुद्धां न सुप्ताम्॥

२८

निःश्वासेनाधरकिसलयक्लेशिना विक्षिपन्तीं
शुद्धस्नानात्परुषमलकं नूनमागण्डलम्बम्।
मत्संभोगः कथमुपनयेत्स्वप्नजोऽपीति निद्रा-
माकाङ्क्षन्तीं नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम्॥

२९

विरह के पहले दिन जो वेणी चुटीलने के बिना मैं बाँध आया था और शाप के अन्त मे शोक रहित होने पर मैं ही जिसे जाकर खोलूंगा, उस खुरखुरी, वेडौल और एक मे लिपटी हुई चोटी को जो छूने मात्र से पीडा पहुचाती होगी, वह अपने कोमल गंडस्थल के पास लम्वे नखो वाला हाथ ले जाकर वार-वार हटाती हुई दिखाई पड़ेगी।

३०

वह अवला आभूषण त्यागे हुए अपने सुकुमार शरीर को भाँति-भाँति के दुखों से विरह-शैया पर तडपते हुए किसी प्रकार रख रही होगी। उसे देखकर तुम्हारे नेत्रो से भी अवश्य नई-नई बूंदों के आँसू वरसेगे। मृदु हृदय वाले व्यक्तियो की चित्त-वृत्ति प्राय; करुणा से भरी होती है।

२९

आद्ये वद्धा विरहदिवसे या शिखा दाम हित्वा
शापस्यान्ते विगलितशुचा तां मयोद्वेष्टनीयाम्।
स्पर्शक्लिष्टामयमितनखेनासकृत्सारयन्तीं
गण्डाभोगात्कठिनविषमामेकवेणीं करेण॥

३०

सा संन्यस्ताभरणमवला पेशलं धारयन्ती
शय्योत्सङ्गे निहितमसकृद् दुःखदुःखेन गात्रम्।
त्वामप्यस्त्रं नवजलमयं मोचयिष्यत्यवश्यं
प्राय. सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा॥

३१

मैं जानता हूँ कि तुम्हारी उस सखी के मन मे मेरे लिए कितना स्नेह है। इसी कारण अपने पहले विछोह मे उसकी ऐसी दु:खित अवस्था की कल्पना मुझे हो रही है।

पत्नी के सुहाग से कुछ अपने को वड़भागी मानकर मैं ये वातें नही वघार रहा। हे भाई, मैंने जो कहा है उसे तुम स्वयं ही शीघ्र देख लोगे।

३२

मुँह पर लटक आने वाले वाल जिसकी तिरछी चितवन रोकते है, काजल की चिकनाई के विना जो सूना है, और वियोग मे मधुपान त्याग देने से जिसकी भौहे अपनी चचलता भूल चुकी है, ऐसा उस मृगनयनी का वायाँ नेत्र कुशल सदेश लेकर तुम्हारे पहुँचने पर ऊपर की ओर फड़कता हुआ ऐसा प्रतीत होगा जैसे सरोवर मे मछली के फड़फड़ाने से हिलता हुआ नील कमल शोभा पाता है।

३१

जाने सख्यास्तव मयि मन. संभृतस्नेहमस्मा-
दित्थंभूतां प्रथमविरहे तामहं तर्कयामि।
वाचालं मां न खलु सुभगंमन्यभाव करोति
प्रत्यक्षं ते निखिलमचिराद् भ्रातरुक्तं मया यत् ॥

३२

रुद्धापाङ्गप्रसरमलकैरञ्जनस्नेहशून्यं
प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम्।
त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शङ्के मृगाक्ष्या
मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति ॥

३३

और भी, रस-भरे केले के खम्भे के रंग-सा गोरा उसका बायाँ उरु-भाग तुम्हारे आने से चंचल हो उठेगा। किसी समय सम्भोग के अन्त में मैं अपने हाथों से उसका संवाहन किया करता था। पर आज तो न उसमें मेरे द्वारा किये हुए नख-क्षतों के चिह्न हैं, और न विधाता ने उसके चिर-परिचित मोतियों से गूँथे हुए जालों के अलंकार ही रहने दिए हैं।

३४

हे मेघ, यदि उस समय वह नींद का सुख ले रही हो, तो उसके पास ठहरकर गर्जन से मुँह मोड़े हुए एक पहर तक बाट अवश्य देखना। ऐसा न हो कि कठिनाई से स्वप्न में मिले हुए अपने प्रियतम के साथ गाढ़ आलिंगन के लिए कंठ में डाला हुआ उसका बाहु-पाश अचानक खुल जाय।

३३

वामश्चास्याः कररुहपदैर्मुच्यमानो मदीयै-
मुक्ताजालं चिरपरिचितं त्याजितो दैवगत्या।
संभोगान्ते मम समुचितो हस्तसंवाहनानां
यास्यत्यूरुः सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम्॥

३४

तस्मिन्काले जलद! यदि सा लब्धनिद्रासुखा स्या-
दन्वास्यैनां स्तनितविमुखो याममात्रं सहस्व।
मा भूदस्याः प्रणयिनि मयि स्वप्नलब्धे कथंचित्
सद्यः कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि गाढोपगूढम्॥

३५

हे मेघ, फुहार उडाती हुई ठडी वायु से उसे जगाओगे तो मालती की नई कलियो की तरह वह खिल उठेगी। तव गवाक्ष मे बैठे हुए तुम्हारी ओर विस्मय-भरे नेत्रों से एकटक देखती हुई उस मानिनी से, बिजली को अपने भीतर ही छिपाकर धीर भाव से घोरते हुए कुछ कहना आरम्भ करना।

३६

हे सुहागिनी, मै तुम्हारे स्वामी का सखा मेघ हूँ। उसके हृदय मे भरे हुए सदेशो को लेकर तुम्हारे पास आया हूँ। मैं अपने धीर-गम्भीर स्वरो से मार्ग मे टिके हुए प्रवासी पतियो को शीघ्र घर लौटने के लिए प्रेरित करता हूँ, जिससे वे अपनी विरहिणी स्त्रियो की बँधी हुई वेणी खोलने की उमंग पूरी कर सके।

३५

तामुत्थाप्य स्वजलकणिकाशीतलेनानिलेन
प्रत्याश्वास्तां सममभिनवैर्जालकैर्मालतीनाम्।
विद्युद्गर्भः स्तिमितनयनां त्वत्सनाथे गवाक्षे
वक्तुं धीरः स्तनितवचनैर्मानिनी प्रक्रमेथा.॥

३६

भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे! विद्धि मामम्बुवाहं
तत्संदेशैर्हृदयनिहितैरागतं त्वत्समीपम्।
यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानां
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि॥

३७

जब तुम इतना कह चुकोगे, तब वह हनुमान् को सामने पाने से सीता की भाँति उत्सुक होकर खिले हुए चित्त से तुम्हारी ओर मुँह उठाकर देखेगी और स्वागत करेगी।

फिर वह सन्देश सुनने के लिए सर्वथा एकाग्र हो जायगी। हे सौम्य, विरहिणी बालाओ के पास प्रियतम का जो सदेश स्वामी के मित्र द्वारा पहुँचता है, वह पति के साक्षात् मिलन से कुछ ही कम सुखकारी होता होगा।

३८

.चिरजीवी मित्र, मेरे कहने से और अपनी परोपकार-भावना से तुम इस प्रकार उससे कहना—

हे सुकुमारी, रामगिरि के आश्रमो मे गया हुआ तुम्हारा वह साथी अभी जीवित है। तुम्हारे वियोग की व्यथा मे वह पूछ रहा है कि तुम कुशल से तो हो। जहाँ प्रतिपल विपत्ति प्राणियो के निकट है वहाँ सबसे पहले पूछने की बात भी यही है।

३७

इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा
त्वामुत्कण्ठोच्छ्वसितहृदया वीक्ष्य सभाव्य चैवन्।
श्रोष्यत्यस्मात्परमवहिता सौम्य! सीमन्तिनीनां
कान्तोदन्तः सुहृदुपनतः संगमात्किचिदूनः॥

३८

तामायुष्मन्! मम च वचनादात्मनश्चोपकर्तुं
ब्रूयादेवं तव सहचरो रामगिर्याश्रमस्थ।
अव्यापन्न. कुशलमबले! पृच्छति त्वां वियुक्तः
पूर्वाभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव॥

३९

दूर गया हुआ तुम्हारा वह सहचर अपने शरीर को तुम्हारे शरीर से मिलाकर एक करना चाहता है, किन्तु वैरी विधाता ने उसके लौटने का मार्ग रूँध रखा है, अतएव वह उन-उन सकल्पो द्वारा ही तुम्हारे भीतर प्रवेश कर रहा है।

वह क्षीण है, तुम भी क्षीण हो गई हो। वह गाढी विरह-ज्वाला मे तप्त है, तुम भी विरह में जल रही हो। वह आँसुओ से भरा है, तुम भी आँसुओ से गल रही हो। वह वेदना से युक्त है, तुम भी निरन्तर वेदना सह रही हो। वह लम्बी उसासें ले रहा है, तुम भी तीव्र उच्छ्वास छोड रही हो।

४०

सखियो के सामने भी जो बात मुख से सुनाकर कहने योग्य थी, उसे तुम्हारे मुख-स्पर्श का लोभी वह कान के पास अपना मुँह लगाकर कहने के लिए चंचल रहता था। ऐसा वह रसिक प्रियतम, जो इस समय आँख और कान की पहुँच से बाहर है, उत्कठावश सदेश के कुछ अक्षर जोड़कर मेरे द्वारा तुमसे कह रहा है।

३९

अङ्गेनाङ्गं प्रतनु तनुना गाढतप्तेन तप्तं
सास्रेणाश्रुद्रुतमविरतोत्कण्ठमुत्कण्ठितेन।
उष्णोच्छ्वासं समधिकतरोच्छ्वासिना दूरवर्ती
संकल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः॥

४०

शब्दाख्येयं यदपि किल ते यः सखीनां पुरस्ता-
त्कर्णे लोलः कथयितुमभूदाननस्पर्शलोभात्।
सोऽतिक्रान्तः श्रवणविषयं लोचनाभ्यामदृष्ट-
स्त्वामुत्कण्ठाविरचितपदं मन्मुखेनेदमाह॥

४१

हे प्रिये, प्रियगु लता मे तुम्हारे शरीर, चकित हिरनियो के नेत्रो में कटाक्ष, चन्द्रमा मे मुख की कान्ति, मोर-पखो मे केश, और नदी की इठलाती हल्की लहरो में चचल भौहो की समता मैं देखता हूँ। पर हा ! एक स्थान मे कही भी, हे रिसकारिणी, तुम्हारी जैसी छवि नही पाता।

४२

हे प्रिये, प्रेम मे रूठी हुई तुमको गेरु के रग से चट्टान पर लिखकर जब मैं अपने-आपको तुम्हारे चरणो मे चित्रित करना चाहता हूँ, तभी आँसू पुन-पुन. उमडकर मेरी आँखो को छेक लेते है। निष्ठुर दैव को चित्र मे भी तो हम दोनो का मिलना नही सुहाता।

४१

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायांशशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चण्डि ! सादृश्यमस्ति ॥

४२

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागै शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्रैस्तावत्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्त ॥

४३

हे प्रिये, स्वप्न-दर्शन के बीच मे जब तुम मुझे किसी तरह मिल जाती हो तो तुम्हे निठुरता से भुजपाश मे भर लेने के लिए मैं शून्य आकाश मे बाँहे फैलाता हूँ। मेरी उस करुण दशा को देखने वाली वन-देवियों के मोटे-मोटे आँसू मोतियो की तरह तरु-पल्लवो पर बिखर जाते है।

४४

हे गुणवती प्रिये, देवदारु वृक्षो के मुँदे पल्लवों को खोलती हुई, और उनके फुटाव से बहते हुए क्षीर-निर्यास की सुगन्धि लेकर चलती हुई, हिमाचल की जो हवाएँ दक्खिन की ओर से आती है, मैं यह समझकर उनका आलिगन करता रहता हूँ, कि कदाचित् वे पहले तुम्हारे अगों का स्पर्श करके आई हो।

४३

मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो-
लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसंदर्शनेषु।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशा पतन्ति॥

४४

भित्त्वा सद्य किसलयपुटान्देवदारुद्रुमाणां
ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः।
आलिङ्ग्यन्ते गुणवति ! मया ते तुषाराद्रिवाता.
पूर्वं स्पष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति॥

४५

हे चंचल कटाक्षो वाली प्रिये, लम्वे-लम्वे तीन पहरो वाली विरह की रात चटपट कैसे बीत जाय, दिन मे भी हर समय उठने वाली विरह की हूले कैसे कम हो जायँ, ऐसी-ऐसी दुर्लभ साधो से आकुल मेरे मन को तुम्हारे विरह की व्यथाओ ने गहरा सन्ताप देकर विना अवलम्व के छोड दिया है।

४६

प्रिये! और भी सुनो। बहुत भाँति की कल्पनाओ मे मन रमाकर मैं स्वयं को धैर्य देकर जीवन रख रहा हूँ। हे सुहागभरी, तुम भी अपने मन का धैर्य सर्वथा खो मत देना।

कौन ऐसा है जिसे सदा सुख ही मिला हो और कौन ऐसा है जिसके भाग्य मे सदा दु ख ही आया हो? हम सवका भाग्य पहिये की नेमि की तरह वारी-वारी से ऊपर-नीचे फिरता रहता है।

४५

संक्षिप्येत क्षण इव कथं दीर्घयामा त्रियामा
सर्वावस्थास्वहरपि कथं मन्दमन्दातपं स्यात्।
इत्थं चेतश्चटुलनयने! दुर्लभप्रार्थनं मे
गाढोष्माभिः कृतमशरणं त्वद्वियोगव्यथाभि॥

४६

नन्वात्मानं बहु विगणयन्नात्मनैवावलम्बे
तत्कल्याणि! त्वमपि नितरां मा गमः कातरत्वम्।
कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दु खमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण॥

४७

जब विष्णु शेष की शैया त्यागकर उठेगे तव मेरे शाप का अन्त हो जायगा। इसलिए वचे हुए चार मास आँख मीचकर विता देना। पीछे तो हम दोनो विरह मे सोची हुई अपनी उन-उन अभिलाषाओं को कार्तिक मास की उजाली रातो मे पूरा करेगे।

४८

तुम्हारे पति ने इतना और कहा है—एक वार तुम पलंग पर मेरा आलिंगन करके सोई हुई थी कि अकस्मात् रोती हुई जाग पड़ी। जव वार-वार मैंने तुमसे कारण पूछा तो तुमने मन्द हँसी के साथ कहा— "हे छलिया, आज स्वप्न मे मैंने तुम्हे दूसरी के साथ रमण करते देखा।"

४७

शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ
शेषान्मासान् गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा।
पश्चादावां विरहगुणितं तं तमात्माभिलाषं
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु॥

४८

भूयश्चाह त्वमपि शयने कण्ठलग्ना पुरा मे
निद्रां गत्वा किमपि रुदती सस्वनं विप्रबुद्धा।
सान्तर्हासं कथितमसकृत्पृच्छतश्च त्वया मे
दृष्टः स्वप्ने कितव! रमयन्कामपि त्वं मयेति॥

४६

इस पहचान से मुझे सकुशल समझ लेना। हे चपलनयनी, लोक-चवाव सुनकर कहीं मेरे विषय में अपना विश्वास मत खो देना। कहते हैं कि विरह में स्नेह कम हो जाता है। पर सच तो यह है कि भोग के अभाव में प्रियतम का स्नेह-रस के संचय से प्रेम का भंडार ही बन जाता है।

५०

पहली बार विरह के तीव्र शोक की दु.खिनी उस अपनी प्रिय सखी को धीरज देना। फिर उस कैलास पर्वत से, जिसकी चोटी पर शिव का नन्दी ढूसा मारकर खेल करता है, तुम शीघ्र लौट आना। और गूढ़ पहचान के साथ उसके द्वारा भेजे गए कुशल संदेश से मेरे सुकुमार जीवन को भी, जो प्रात काल के कुन्द पुष्प की तरह शिथिल हो गया है, ढाढस देना।

४६

एतस्मान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानाद्विदित्वा
मा कौलीनाच्चकितनयने ! मय्यविश्वासिनी भू ।
स्नेहानाहु· किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसा· प्रेमराशीभवन्ति ॥

५०

आश्वास्यैवं प्रथमविरहोदग्रशोकां सखीं ते
शैलादाशु त्रिनयनवृषोत्खातकूटान्निवृत्त ।
साभिज्ञानप्रहितकुशलैस्तद्वचोभिर्ममापि
प्रात कुन्दप्रसवशिथिलं जीवितं धारयेथा: ॥

५१

हे प्रिय मित्र, क्या तुमने निज बन्धु का यह कार्य करना स्वीकार कर लिया ? मैं यह नही मानता कि तुम उत्तर म कुछ कहो तभी तुम्हारी स्वीकृति समझी जाय। तुम्हारा यह स्वभाव है कि तुम गर्जन के बिना भी उन चातको को जल देते हो जो तुमसे मांगते हैं। सज्जनो का याचको के लिए इतना ही प्रतिवचन होता है कि वे उनका काम पूरा कर देते है।

५२

हे मेघ, मित्रता के कारण, अथवा मै विरही हूँ इनसे मेरे ऊपर दया करके यह अनुचित अनुरोध भी मानते हुए मेरा कार्य पूरा कर देना। फिर वर्षा ऋतु की शोभा लिये हुए मन-चाहे स्थानो मे विचरना। हे जलधर, तुम्हे अपनी प्रियतमा विद्युत् से क्षण-भर के लिए भी मेरे जैसा वियोग न सहना पडे।

५१

कच्चित्सौम्य ! व्यवसितमिदं बन्धुकृत्य त्वया मे
प्रत्यादेशान्न खलु भवतो धीरतां कल्पयामि।
नि शब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः
प्रत्युक्त हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव ॥

५२

एतत्कृत्वा प्रियमनुचितप्रार्थनावर्तिनो मे
सौहार्दाद्वा विधुर इति वा मय्यनुक्रोशबुद्ध्या।
इष्टान्देशाञ्जलद ! विचर प्रावृषा संभृत श्री-
र्मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोग ॥

टिप्पणी

पूर्वमेघ

श्लोक १।१

यक्ष—एक प्राचीन जाति। देवता या देवयोनि के रूप मे यक्षो का उल्लेख भारतीय साहित्य मे है। वौद्ध, जैन और ब्राह्मण तीनो साहित्यो मे यक्षो की पूजा और यक्ष जाति के उल्लेख पाए जाते है। महाभारत मे अनेक प्रकार से यक्षो का वर्णन है। शुङ्गकाल (ई० पू० दूसरी शती) से लेकर गुप्तकाल तक भारतीय कला और साहित्य मे प्राय यक्षो का अभिप्राय पाया जाता है। उसी पृष्ठभूमि मे कालिदास ने अपने इस काव्य मे यक्ष को रसिक प्रेमी के रूप मे कल्पित किया है।

रामगिरि—मल्लिनाथ ने चित्रकूट को रामगिरि माना है, किन्तु अब प्राय वहुमत से नागपुर के समीप स्थित रामटेकरी के साथ रामगिरि की पहचान की जाती है, जो समीचीन है। मेघ रामगिरि से चलकर क्रमश उत्तर दिशा मे माल क्षेत्र, आम्रकूट, नर्मदा, दशार्ण, वेत्रवती, विदिशा और वहाँ से पश्चिम मे उज्जैन होता हुआ चर्मण्वती के प्रदेश से आगे वढकर गगा द्वार और कनखल के पास हिमालय पर आरोहण करता है और वहाँ से कैलास और अलका की ओर जाता है।

शाप—कुवेर ने यक्ष को शाप दिया था कि एक वर्ष तक अपनी पत्नी से अलग रहे। भरत, सनातन, रामनाथ, हरगोविन्द और कल्याणमल्ल की टीकाओ मे यक्ष के शाप का कारण बताते हुए कहा है कि कुवेर ने उसे अपना उद्यानपाल नियुक्त किया था, किन्तु पत्नी के साथ विलास करने के कारण उसने अपने कार्य मे असावधानी की। किसी दिन इन्द्र का ऐरावत हाथी कुवेर के उद्यान मे आकर उसे विध्वस करने लगा, जिससे कुवेर कुपित हुए और अपराधी यक्ष को शाप दिया। सारोद्धारणी टीका मे शाप का कारण इस प्रकार लिखा है—

कुवेर की आज्ञा थी कि प्रतिदिन प्रातःकाल यक्ष शिव की पूजा के लिए मानसरोवर से कमल लाकर दिया करे, पर प्रातःकाल अपनी प्रियतमा का साथ न छोडने से वह रात के रखे हुए कमल ही देने लगा। एक दिन ऐसा हुआ कि कमल-कोश मे वैठे हुए भौंरे ने कुवेर की अगुली मे डस लिया। भेद खुलने पर कुवेर ने यक्ष को शाप दिया।

श्लोक १।२

कनक-वलय—गुप्तकाल के छैले नागरिक एक हाथ मे सोने का ढीला कडा पहनते थे, ऐसा शिल्प मे उत्कीर्ण मूर्तियो से ज्ञात होता है। इसी की ओर कालिदास ने संकेत किया है। शकुन्तला मे भी राजा दुष्यन्त को शकुन्तला के वियोग मे बाएँ हाथ मे सोने का कडा पहने हुए लिखा है—

> प्रत्याख्यात विशेष मण्डनविधिर्वाम प्रकोष्ठार्पितम्।
> विधृतकाचन्मेकमेघवलय श्वासापरक्ताधर।

आषाढस्य प्रथम दिवसे—यक्ष ने मेघ को आषाढ़ के प्रथम दिन आकाश मे देखा। मल्लिनाथ ने यही पाठ माना है।

वल्लभदेव आदि प्राचीन टीकाकारो ने 'प्रथम दिवसे' पाठ माना है। 'प्रथम दिवसे' पाठ ही ठीक जान पडता है। यक्ष को कुछ ऐसी हडवडी न थी कि आषाढ के अन्तिम दिन मेघ का दर्शन करके उसके अगले दिन सावन मे मेघ को दूत वनाकर भेजने की वात चलाता। मेघ क्रम-क्रम से आकाश मे सचित होते है। उन्हे देखकर यक्ष के मन मे उत्कण्ठा जाग्रत हुई। वह मेघ के सामने बहुत देर तक सोच-विचार करता रहा (चिर दध्यौ)। उसके वाद सावन के निकट आने पर यक्ष के मन मे मेघ को दूत वनाकर भेजने का विचार उत्पन्न हुआ। इतने वर्णन की सगति तभी वैठती है जव आषाढ के आरम्भ मे ही मेघ का पहला खण्ड यक्ष को आकाश मे दिखाई पडा हो। आषाढ के अन्तिम दिन ही यदि मेघ का दर्शन माना जाय तो 'प्रत्यासन्ने नभसि' (१।४) इसकी संगति नही वैठती। सावन के आरम्भ मे यक्ष ने मेघ के प्रति सन्देश कहना आरम्भ किया। अतएव सावन, भादो, क्वार, कात्तिक, इन चार अवशिष्ट महीनो को ध्यान मे रखकर 'शेषान्मासान् गमयचतुरो लोचने मीलयित्वा', उसका यह कहना भी सगत होता है।

श्लोक १।३

राजराजस्यानुचरः—यक्ष का एक पर्याय राजा था। यक्षो के राजा होने के कारण कुवेर को राजराज या महाराज इन दोनो नामो से संस्कृत साहित्य मे अभिहित किया गया है। यक्ष के लिए राजा शब्द का अत्यन्त प्राचीन प्रयोग शान्तिपर्व के निम्नलिखित श्लोक मे आया है—

आत्मन सप्तमं काम जित्वा शत्रुमिवोत्तमम् ।
प्राप्यावध्य ब्रह्मपुर राजेव स्यामहं सुखी ।।
(शान्ति०, पूना सस्करण, १७१।५२)

श्लोक १।४

कुटज—हिन्दी कुरैया का फूल, जो वर्षा के आरम्भ मे खिलता है। कुटज का वृक्ष सफेद रग के पखडीदार फूलो से लदा हुआ वरसात मे वहुत ही सुन्दर जान पडता है।

श्लोक १।५

धूम ज्योति. सलिल मरुतां सन्निपात.—मेघ के इस स्वरूप की वैज्ञानिक व्याख्या परिशिष्ट मे दिये हुए लेख से विशेप जानी जा सकती है।

श्लोक १।६

गर्भाधानक्षण—क्षण का अर्थ उत्सव है। मेघदूत १।६३ मे 'क्षण मुखपट प्रीतिम्' पद मे भी क्षण का अर्थ उत्सव ही है। दम्पति वगुलियाँ गर्भाधान के समय एक दूसरे को रिझाने के लिये आकाश मे ऊँची उड़ान भरकर काले मेघ की ऊँचाई तक पहुँचेगी, यही कवि का अभिप्राय है।

श्लोक १।११

शिलीन्ध्र—खुम्भी, साँप की टोपी, कुकुरमुत्ता, छत्रक आदि नामो से प्रसिद्ध। पृथिवी मे से खुम्भियो का फुटाव लेना इस वात का सूचक माना जाता है कि पृथिवी मे गर्भ-धारण की शक्ति है और वह [illegible] है। मल्लिनाथ ने निमित्तनिदान ग्रन्थ [illegible]

कालाभ्रयोगादुदिता. शिलीन्ध्रा· संपन्नसस्या कथयन्ति धात्रीम् ।

अवन्ध्या मही—पृथिवी के गर्भ धारण करने अर्थात् नायक मेघ के आगमन से हरी होने या फलने की ओर संकेत है।

श्लोक १।१४

दिङ्नाग—इस शब्द का एक अर्थ तो दिग्गज है। किन्तु दूसरे अर्थ मे दिङ्नाग नाम के प्रवल वौद्ध तार्किक की ओर सकेत भी है। मल्लिनाथ ने जो यह अर्थ किया है उसके पीछे कोई पक्की परम्परा उनको ज्ञात थी। वाण ने भी इसी प्रकार के एक द्व्यर्थक वाक्य मे दिङ्नाग के भुजा फटकारकर शास्त्रार्थ मे प्रतिपक्षियो को आह्वान देने की ओर सकेत किया है (दर्पात् परामृशन् नखकिरणसलिलनिर्झरै समरभारसभावना-भिपेकमिव चकार दिङ्नागकुम्भकूटविकटस्य वाहुशिखरकोशस्य वाम पाणिपल्लव.—हर्ष चरित, निर्णयसागर, पाँचवाँ सस्करण, पृ० १८३)। वौद्ध दार्शनिक वसुवन्धु ने अभिधर्म कोश नामक एक दर्शन-ग्रन्थ लिखा था। वसुवन्धु के अनुयायी दिङ्नाग चौथी शती मे हुए। तारानाथ के अनुसार दिङ्नाग वसुवन्धु के शिष्यो मे सवसे वड़े विद्वान् और स्वतन्त्र विचारक हुए। वे वौद्ध तर्कशास्त्र के जन्मदाता एव भारतीय दर्शन के क्षेत्र मे चोटी के विद्वान् माने जाते है। दिङ्नाग ने अपने दिग्गज पाण्डित्य के वल पर वसुवन्धु के 'अभिधर्म कोश' को सव शास्त्रो मे शिरोमणि प्रमाणित किया था। दिङ्नाग का लिखा हुआ एक ग्रन्थ 'हस्तवलप्रकरण' या 'मुष्टिप्रकरण' प्राप्त है। सम्भवत· इसी ग्रन्थ के कारण दिङ्नाग के विषय मे विपक्षियो के साथ हाथ फेककर शास्त्रार्थ करने की किंवदन्ती प्रचलित हुई। कालिदास ने मेघदूत मे दिङ्नाग के स्थूल हस्तावलेपो का जो उल्लेख किया है, वह अवश्य ही सत्य पर आश्रित जान पडता है। उसीका उल्लेख और वास्तविक स्वरूप वाण के श्लेषात्मक वाक्य से प्रकट होता है। वाण के इस वाक्य के तीन अर्थ है जिनमे से दिङ्नाग सम्वन्धी भावार्थ इस प्रकार है—'सीधे हाथ मे अभिधर्म ग्रन्थ कोश उठाकर, वाएँ हाथ से उसकी ओर इशारा करते हुए आचार्य दिङ्नाग शास्त्रार्थो मे अपनी प्रतिभा से उत्पन्न नई-नई कूट-कल्पनाओ द्वारा उसका मण्डन (भावनाभिपेक) करते थे (देखिए, लेखक का लिखा 'हर्षचरित. एक सास्कृतिक अध्ययन', पृ० १२२)। वाण ने अपने युग

मे प्रसिद्ध जिस साहित्यिक अनुश्रुति का काव्यात्मक कौशल से उल्लेख किया वही कालिदास को भी विदित थी। वस्तुत कालिदास का यह उल्लेख अपने समकालीन आचार्य दिङ्नाग की ओर ही जान पडता है। दिङ्नाग ने 'कुन्दमाला' नामक नाटक लिखा है।

श्लोक १।१५

वल्मीकाग्र—इस शब्द के अर्थ के विषय मे टीकाकारो के कई मत है। मल्लिनाथ ने साँप की बाँबी अर्थ किया है। भरत का भी यही मत है, किन्तु उन्होने व्याख्या करते हुए इतना और लिखा है कि पाताल से वासुकि नाग के फणो मे लगी हुई मणियो की कान्ति बाँबी से उठकर आकाश मे छिटकती है, वही इन्द्रधनुप है। 'मेघदूत' के टीकाकार सनातन ने वल्मीक शब्द का अर्थ पर्वत और अग्र का अर्थ शिखर किया है, अतएव उनके अनुसार वल्मीकाग्र—पर्वत शिखर। उन्होने 'शब्दार्णव कोश' का यह प्रमाण दिया है 'वामलूरे गिरे· शृगे वल्मीक पदमिष्यते। एक दूसरे टीकाकार रामनाथ ने 'मुक्तावली' नामक टीका मे यह प्रमाण दिया है—

'वल्मीक सातपो मेघ वल्मीक सूर्य इत्यपि' अर्थात् वल्मीक वह मेघ है, जिस पर धूप पड रही हो। तभी सूर्य की किरणे इन्द्रधनुष के आकार मे दिखाई देती है। इस सम्वन्ध मे वराहमिहिर ने भी ज्योतिप शास्त्र का प्रमाण दिया है—

सूर्यस्य विविधा वर्णा पवनेन विघट्टितकरा साभ्रे।
वियति धनु. सस्थाना ये दृश्यन्ते तदिन्द्र धनु·।

वस्तुत. वर्पाकाल मे मेघो के जलकणो पर सूर्य की धूप पड़ने से आकाश मे इन्द्रधनुप दिखाई देता है। इन्द्रधनुष का वैज्ञानिक कारण तो यही है।[1] किन्तु इसमे सन्देह है कि कालिदास इस तथ्य की ओर उल्लेख कर रहे है अथवा किसी लोक-विश्वास पर आश्रित कवि-कल्पना की ओर। हमने मल्लिनाथ का अर्थ ही रखा है।

१—वल्मीकाग्र के इन विभिन्न अर्थ की सामग्री के लिए मै श्री सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार द्वारा विरचित 'हिन्दी मेघदूत विमर्श' का अनुगृहीत हूँ।

श्लोक १।१६

भक्तिच्छेदैः। भक्ति = हिं० भात, गुजराती भांत; आकृतिक, रचना या अभिप्राय (अं० डिजाइन)। छेद = पत्ते या कागज मे बनाई हुई कटावदार आकृति (अं० स्टेन्सिल) जिस पर रग फेरने से चित्र बन जाता है। भक्ति और छेद ये दोनो चित्रकला के पारिभाषिक शब्द है।

श्लोक १।२१

सारङ्गाः—मल्लिनाथ के अनुसार सारग शब्द के तीनो अर्थ भौंरे, हिरण और हाथी, इस श्लोक मे लिये गए है।

श्लोक १।२२

ककुभ—कुटज। कंदली = भूमिकदली, भुइं केली।

श्लोक १।२३

चैत्य—स्तूप और वृक्ष इन दो अर्थों मे चैत्य शब्द प्रयुक्त होता था। यहाँ वृक्ष अर्थ अभिप्रेत है। चिताभूमि मे मृतात्मा के उद्देश्य से रोपे हुए वृक्ष को चैत्य कहते थे। पीछे गाँवों के पूजार्थ अश्वत्थ आदि महावृक्षो के लिए चैत्य शब्द प्रयुक्त होने लगा।

केतकीसूचि—केवडे की लम्बी बाल। वृति = बाड या रौंस। गृहबलि—घरो मे भोजन से पहले निकाला जाने वाला ग्रास जिसे गाँवो मे रामग्रास या रामगस्सा भी कहते है।

श्लोक १।३५

वर्षाग्रबिन्दून्—अग्रबिन्दु शब्द का अर्थ मल्लिनाथ ने प्रथम बिन्दु किया है। हमने उसका अर्थ 'बडी-बडी बूंदे' ऐसा समझा है, जिन्हे मेरठ की बोली मे बुँदाकडे या सावन के सरवरे कहते हैं। कालिदास ने मेघ की आकृति, रूप, ध्वनि, गति, विद्युत् और वृष्टि इन छ बातो का यथासम्भव अनेक रूपो मे उल्लेख किया है। मेघ की बूंदे भरन, फुहार, झडी, बुन्दाकडे आदि जितने रूपो मे बरसती है उन सब का ही उल्लेख मेघदूत काव्य मे कही-न-कही आ गया है। बुन्दाकडे एकदम से बरसने लगते है और कुछ क्षणो के बाद ही बन्द हो जाते है। उसी की ओर कवि का सकेत है।

चामर-वलि = चँवर की खरीदी हुई मूठ या डडी।

श्लोक १।३८

भवनवलभौ—मल्लिनाथ के अनुसार वलभी=गृहाच्छादन, घर की छत। जानकी-हरण श्लोक १।१९ मे सौधो के ऊपर 'वलभीविटक' का उल्लेख है। चतुर्भाणों के अन्तर्गत 'पादताडितकम्' (पृ० १२) मे हर्म्य, शिखर कपोत पालि, सिंहकर्ण, गोपानसि, वलभी, पुर, अट्टालक और अवलोकन इन पारिभाषिक शब्दो का भवनवर्णन के प्रसंग मे उल्लेख आया है। वस्तुत वलभी का अर्थ छत के ऊपर की गोल मुँडेर जान पड़ता है, जिसके सामने की ओर कपोतपालि नामक छोटे कँगूरो की पंक्ति बनी रहती थी। कबूतर इन्ही मे छिपकर रहते थे।

श्लोक १।४०

छायात्मा—प्रतिबिम्ब शरीर। तथ्य यह है कि आकाशस्थित मेघ की परछाई गम्भीरा नदी के निर्मल जल मे दिखाई देगी, इसी से यह कल्पना की गई है कि नायक मेघ का प्रतिबिम्ब-शरीर नायिका के मन मे प्रवेश पायगा। उससे वह अपना धैर्य खोकर कटाक्षो से तुम्हारी ओर विभ्रम का परिचय देगी।

श्लोक १।४३

पुष्पमेघी कृतात्मा—मल्लिनाथ के अनुसार फूल बरसानेवाले मेघ के रूप मे परिवर्तित होकर, यह अर्थ उपयुक्त है। पुष्पमेघ पद मे पुष्प शब्द का दूसरा संकेत वही ऊपर श्लोक १।३५ मे कहे हुए अग्र बिन्दु या बडी-बडी बूंदे है, जो ठीक इसी प्रकार बरसती है मानो फूल बरस रहे हो और पुष्प-वृष्टि के समान ही शीघ्र समाप्त हो जाती है। उन पुष्पाकृति बूंदो मे पृथ्वीतल से ले जाए हुए अपने जल के साथ आकाश-गगा के जल को भी मिलाकर बरसाना। यही 'व्योमगगा जलार्द्रैं पुष्पासारै' की सुन्दर ध्वनि है। अध्यात्म पक्ष मे, जिसका इस ग्रन्थ मे विवेचन है, उसका आशय यो है—

पृथ्वी या मूलाधार चक्र से ऊपर उठे हुए सुषुम्णा के रस मस्तिष्क के सोम या अमृत से मिलकर पुन दिव्य पवित्र बनकर पृथिवी की ओर आते है। [illegible] मर्[illegible] [illegible]ज—स्कन्द—को उनसे अभिषिक्त कराना ही [illegible]

श्लोक १।४६

स्थूल मध्येन्द्रनीलं मुक्तागुणम्। **मुक्तागुण**—मोतियो की माला जिसे गुप्तकाल मे एकावली कहते थे। रघुवंश (१३।४८) मे इसे ही मुक्तावली कहा है। एकावली माला के बीच मे नीलम का बड़ा लम्बोतरा मनका पिरोया जाता था। इसकी ओर ही कालिदास का सकेत है। गुप्तकालीन अजन्ता के गुफाचित्रो मे इन्द्रनील और मोतियो की एकावली के अनेक उदाहरण मिलते है। कालिदास ने अन्यत्र भी मुक्ताफल और इन्द्रनील के साहचर्य से बनी हुई माला का उल्लेख किया है—

"प्रागेव मुक्ता नयनाभिरामा प्राप्येन्द्रनीलं किमुतो मयूख।

(रघु० १६।६९)

और भी,

"क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा।"

श्लोक १।५४

तुमुलकरकावृष्टिपात—हिमालय पर पहुँचकर मेघ का जल अधिक शीत पाकर ओलो मे बदल जाता है। अतएव वहाँ कवि ने ओलो की वृष्टि का उल्लेख किया है।

श्लोक १।५६

कीचक—विशेष प्रकार के बाँसों को कीचक कहते थे। डॉ० बागची ने सिद्ध किया है कि सस्कृत का कीचक शब्द चीनी भाषा से स्वल्प ध्वनि-परिवर्तन के साथ लिया गया है। लगभग गुप्तकाल या उससे कुछ पूर्व यह शब्द सस्कृत मे आया होगा। कालिदास ने रघुवंश २।१२, ४।७३ और कुमार सभव १।८ मे इसका प्रयोग किया है। अमरकोश मे भी यह शब्द आया है। ये गुप्तकाल की ही रचनाएँ है। सभापर्व ४८।२ के अनुसार मध्य एशिया की शैलोदा नदी के जिसका नाम मणिजला भी था, जो आजकल की Jade River है, दोनो किनारो पर कीचक-वेणुओ के घने जगल थे। यह स्थान मेरु पर्वत के पास था जो आजकल का पामीर है। रामायण किष्किन्धाकाण्ड ४३।३७ मे भी शैलोदा के तीर पर कीचको का उल्लेख है। महाभारत और रामायण के दिग् वर्णन सम्बन्धी ये दोनो प्रकरण गुप्तकालीन रचना ज्ञात होते है।

श्री के० वी० रामचन्द्रन् ने एक सुन्दर लेख मे कीचक शब्द पर विचार करते हुए उसकी पहचान इओलिअन फ्लूट (Aeolian Flute) से की है। यह एक प्रकार की वशी थी जिसे मनुष्य बनाकर कही जगल मे रख देते थे और इसके छिद्रो मे से निकलती हुई हवा मधुर सगीत-स्वर उत्पन्न करती थी। जावा मे कीचक-वशी अभी तक विदित है और उसे सुन्दरी कहते है।

श्लोक १।५७

हंस-द्वार—हिमालय से कैलास की ओर जाने वाला यह मार्ग किसी पहाडी दर्रे का नाम होना चाहिए। संभवत लिपूलेख दर्रे का यह प्राचीन नाम था, जो इस समय भी कैलास तक आने-जाने का प्रधान मार्ग है। भारत से प्रतिवर्ष तिब्बत की ओर उडकर जानवाले हसो का मार्ग होने के कारण इसे हस-द्वार कहा गया है। ठीक इसी प्रकार भारत से मध्य एशिया की ओर उडान भरनेवाले हस जाति के पक्षियो का दूसरा मार्ग प्राचीन भारतीय भूगोल मे हंस-मार्ग कहा गया। (भीष्म पर्व १०।६८) जो कश्मीर के दरद प्रान्त का उत्तरी भाग वर्तमान 'हुजआ' है।

श्लोक १।५९

सद्यः कृतद्विरददशनच्छेदगौरस्य—हाथी के दाँत प्रतिवर्ष फुट-डेढ फुट वढते है। उन्हे वर्ष मे एक बार आरी से कटवा देते है। जिस जगह से दाँत काटा जाता है वह छेद (हिन्दी छेवा) कहलाता है। दाँत के ऊपरी रग की अपेक्षा उस कटे हुए छेवे का रग एकदम गोरा-चिट्टा होता है। उसी के रंग से कैलास के रग की तुलना की गई है।

श्लोक १।६०

भंगी भक्ति = सीढी के आकार की टेढी-मेढी या टूटुआँ आकृति

श्लोक १।६१

वलयकुलिशोद्घट्टनोद्गीर्ण तोयं यंत्रधारागृहत्वम्—इन शब्दो के मूल मे वस्तुस्थिति इस प्रकार है। कैलास के क्षेत्र मे पहुँचने पर अत्यधिक शीत से मेघ का बाह्य आवरण बरफ रूप मे जम जाता है, किन्तु उसके भीतर जल भरा रहता है (स्तम्भितान्तर्जलौघ.)। अतिशीत

प्रदेशो मे वरफ जमने का यही प्राकृतिक नियम है। नदी या समुद्र की ऊपरी सतह पर वरफ जम जाती है। और उसके नीचे जल भरा रहता है। वाहर से ठोस और भीतर जल से पूर्ण मेघ मे सुरवालाएँ अपने कगनो मे जडे हुए हीरो की ठकठक चोट से जव छेद कर देती है तो भीतर का जल फूट निकलता है और मेघ का स्वरूप वने-वनाए फौवारे का हो जाता है।

श्लोक १।६२

ऐरावतस्य क्षणमुख पट प्रीतिम्—यहाँ मल्लिनाथ ने क्षण का अर्थ जलादान काल अर्थात् हाथी के पानी पीने का समय किया है, यह ठीक नही जान पडता। पानी पिलाते समय हाथी के मुँह के ऊपर कपडा डाल दिया जाय ऐसी यदि प्रथा हो तो मल्लिनाथ का अर्थ ठीक हो सकता है। किन्तु ऐसी प्रथा का उल्लेख या प्रमाण नही मिला। वस्तुत वात यह है कि क्षण अर्थात् उत्सव के समय जूलूस मे निकालने के लिए हाथी को वस्त्र और आभूपणो से सजाते है और उसके शरीर पर खडिया से चित्र-रचना भी करते है। उसकी पीठ पर दोनो ओर लटकती हुई झूल डाली जाती है। सिर पर चँदोवा और कानो पर कनचँदोवा पहनाया जाता है।[1] उसे ही कालिदास ने क्षणमुखपट (उत्सव के समय की सजावट का मुखवस्त्र) कहा है। वाण ने भी हर्पचरित मे हर्प के राजकुजर दर्पशात के लिए झीने दुकूल के मुखपट्ट का उल्लेख किया है। (कल्पद्रुम दुकूलमुखपट्टमिव चात्मन कलयन्तम्, हर्षचरित, उ० २, पृ० ६६)

श्लोक १।६३

मुक्ताजाल—मोतियो के पिरोए हुए जाले जिनसे गुप्तकाल के स्त्री-पुरुप अपने केशो, मुकुटो और उरुप्रदेश को अलकृत करते थे। इस प्रकार के सन्तानक झुग्गो को अग्रेजी मे फेस्टून (festoon) कहते है। मुक्ताजाल के लिए और भी देखिए २।६, २।३३।

१—इस सूचना के लिए मै अपने मित्र श्री जयकिशोर नारायणसिह का कृतज्ञ हूँ। इससे पहले मैने भी 'मुखपट' का अर्थ 'हाथी को पानी पिलाते समय मुख पर डाला जानेवाला पर्दा' ऐसा ही भ्रान्त समझा था ('हर्षचरित . एक सांस्कृतिक अध्ययन', पटना, १६५३, पृ० ४१)

उत्तरमेघ

श्लोक २।२

हस्ते लीला कमलम्—हाथ मे सनाल कमल लिये हुए स्त्रियो का अंकन कुषाण और गुप्तकाल मे मिलता है जिससे विदित होता है कि यह उस युग की प्रिय प्रथा थी। अलक, चूडापाश, सीमत इन तीनो का उल्लेख एक ही श्लोक मे हुआ है। ये केश-विन्यास के पारिभाषिक शब्द थे। कालिदास ने स्वय अलक का विशेषण वलीभृत् (रघुवश८।५३) कहा है जिससे निश्चित होता है कि घुँघराले बाल या छल्लेदार केशो के लिए यह पारिभाषिक शब्द था। अलक केश-रचना का विशेष प्रचार गुप्तकाल मे हुआ जब कि भारतवर्ष से लेकर 'रोम देश तक सभ्रान्त स्त्रियो का यह प्रिय केश-विन्यास बन गया था। एवं स्त्रियो के समान पुरुष भी अपने-आपको अलकावलि से सजाते थे। चूड़ापाश = सिर के पीछे बँधा हुआ जूडा जो कुरवक के टटके फूलो से सजाया जाता था।

सीमन्त = मस्तक केशवीथी या माँग। उसमे आगे की ओर कदंब का फूल सजाया गया था।

श्लोक २।११

एकः सूते सकलमबलामडनं कल्पवृक्षः—कल्पवृक्षो से वस्त्र-आभूषण, अन्न, पान और सुन्दरी कन्याओ के उत्पन्न होने का अभिप्राय भारतीय साहित्य मे बहुत पुराना था। जातक, रामायण, महाभारत, जैन साहित्य एव पुराणो के भुवनकोष आदि मे इसके उल्लेख एव साँची-भरहुत की कला मे इसका अंकन पाया जाता है।

श्लोक २।१७

द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शङ्खपद्मौ च दृष्टवा—द्वार के उपान्त भाग अर्थात् पार्श्वस्तम्भो पर शख और पद्म का अलकरण अकित करने की प्रथा गुप्तकाल की कला मे ही मिलती है, उससे पूर्व नही। यहाँ कालिदास अपनी समकालीन कला की इस विशेषता का उल्लेख कर रहे है।

श्लोक २।२१

मुखमसकलव्यक्तिलम्बालकत्वात्—केशो का अलक रूप मे यदि

उचित सस्कार किया गया हो तो अलकावलि या अलकपंक्ति मुख के दोनो ओर जमाई हुई सुन्दर लगती है। किन्तु विरह मे यक्षिणी के केश-संस्कार न करने से अलको का घुँघरालापन नष्ट हो गया था। वे मुख पर लटक आई थी जिससे मुख पूरा दिखाई न पडता था। श्लोक २।२८ मे विरह मे तैलादि रहित स्नान के कारण अलको को गालो तक लटकती हुई और खुरखुरी कहा गया है।

श्लोक २।४१

शिखिनां वर्हभारेषु केशान्—वर्हभार केश-रचना गुप्तकाल मे सभ्रान्त केश-विन्यास की दूसरी विशेषता थी। इसमे केशो को माँग के दोनो ओर मोर के लहराते हुए पखो के समान दिखाया जाता था, केवल सिरे पर वे कुछ मुड़े रहते थे। गुप्तकालीन मिट्टी के खिलौनो मे इस केश-रचना के सुन्दर नमूने पाए गए है। दडी ने भी 'दशकुमार-चरित' मे नाचते हुए मोर के पखो की भगिमा वाले वालो का उल्लेख किता है। (लीला मयूर वर्ह भङ्ग्या केशापाश च विधाय।)

श्लोक २।४६

अभिज्ञान दानात्—कालिदास ने शकुंतला और विक्रमोर्वशीय मे विशेष रूप से अभिज्ञान या पहचान चिन्ह का उल्लेख किया है। यहाँ भी यक्ष अपनी प्रियतमा के पास मेघ द्वारा अभिज्ञान भेजता है। इन गूढ सकेतो के आर-पर विद्वानो ने कालिदास के दार्शनिक विचारो का सम्बन्ध कश्मीर के प्रत्यभिज्ञा दर्शन से निर्धारित किया है।

परिशिष्ट १

मेघशास्त्र

अर्वाचीन ऋतुविज्ञान के अनुसार मेघो का जो शास्त्रीय विवेचन किया जाता है, उसका कुछ स्वरूप परिशिष्ट २ मे प्रकाशित लेख से ज्ञात होगा। कालिदास के मेघदूत काव्य की जो दृष्टि है उसके लिए मेघ के इस प्रकार सागोपाग वैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता नही। फिर भी कालिदास महाकवि थे। उनकी दृष्टि मे मेघ के वे सब स्वरूप समा गए थे जो भारतीय आकाश मे वर्ष-वर्ष पर सचित होनेवाले मेघ वर्षण, गर्जन, तर्जन सप्लवन, ऊर्ध्व गमन, तिर्यग्गमन आदि के द्वारा विद्युत्-वनिता के साथ नवमगल करते हुए रचते है। सहस्रो वारिधाराओ से सयुक्त उनके सलिलोद्गारो मे नवजल की कणिकाओ के पृथ्वी की ओर आने मे. अथवा मन्द्र, स्निग्ध, स्तनित घोष मे जो वर्षाकाल की श्री सम्भृत होती है, उसका कोई पक्ष ऐसा नही जो महाकवि की दृष्टि मे न आ गया हो। मेघ की आकृति, ध्वनि, गति, वर्ण और वृष्टि के सम्बन्ध मे पुष्कल काव्यात्मक वर्णन मेघदूत मे विद्यमान है।

वैज्ञानिक विवेचन के अनुसार मेघ चार प्रकार के कहे गए है और सस्कृत साहित्य मे भी उनके चार ही भेद है। अंग्रेजी नामो के ठीक पर्याय के रूप मे तो नही, किन्तु कुछ विशेषताओ के अनुसार संस्कृत नामो को उन नामो के समकक्ष इस प्रकार माना जा सकता है—

(१) सिरस	(Cirrus)—सस्कृत		पुष्कर
(२) स्ट्रेटस	(Stratus)	,,	आवर्त्तक
(३) क्युमुलस	(Cumulus)	,,	सवर्त्तक
(४) निम्बस	(Nimbus)	,,	द्रोण

पुष्कर मेघो मे चित्रित वृष्टि अर्थात् ओले, बरफ आदि सूक्ष्म कणो का ढेर कहा गया ह, जो सिरस मेघो की विशेपता है। ये सबसे अधिक ऊँचाई पर रहते है ... ो को अत्यन्त जल बरसानेवाला कहा गया है अतएव ... की तुलना अंग्रेजी के निम्बस नामक मेघो से करनी ... ास नामक मेघो मे तूफान, मेघ-गर्जन ...

घोर वृष्टि होती है। जिस समय वे आकाश मे उठते है, प्रलय-सी मच जाती है। इन्ही को पुराणो मे सवर्त्तक मेघ कहा है, जो प्रलयान्त मे आकर वृष्टि के बँधे हुए सस्थान को तोड-फोड डालते है। चौथे स्ट्रैटस मेघो मे बहुत-सी परते या तहे पाई जाती है, अतएव उन्हे आवर्त्तक नाम से अभिहित किया जा सकता है।

अग्रेजी मेघशास्त्र के अनुसार इन्ही चार के दस अवान्तर भेद हो जाते है, जिनका उल्लेख कुछ लक्षणो के साथ परिशिष्ट २ के विद्वान् लेखको ने किया है। मेघो के ये रूप अपनी-अपनी विशेषता लिये हुए आकाश मे आते रहते है और ऋतुविज्ञान के अनुसार अनेक प्रकार से इनके चित्र भी लिये जाते है।[1] मेघदूत मे मेघो के अवान्तर रूपो का चित्रण इस प्रकार हुआ है।

(१) कालिदास ने रामगिरि के मेघ को पुष्कर और आवर्त्तक नामक मेघो के उच्च वंश मे उत्पन्न कहा है। ऊपर लिखे हुए सिरस (पुष्कर) और सिर्रो-स्ट्रैटस (आवर्त्तक) मेघ वायुमडल मे सर्वोच्च, बीस सहस्र फुट या इससे भी अधिक ऊँचाई पर पाए जाते है। जहाँ यह होता है वहाँ का ताप हिमाक से भी नीचे रहता है। अतएव यह मेघ जलीय नही, हिम के सूक्ष्म कणो से बना होता है। कवि ने इस मेघ का उल्लेख हिमालय मे किया है। पहले तो उसे 'मुक्ताध्वा' कहा गया ह अर्थात् वायुमंडल मे मेघो के सचरण का जो पथ है, यह उससे ऊपर रहता है। दूसरे इसे ओले-पत्थर बरसाने वाला कहा गया है (तुमुलकर-कावृष्टिपात, १।५४)। ये दोनो लक्षण इसी मेघ के है।

(२) दूसरा भेद कुन्तल परतीले (सिर्रो-स्ट्रैटस) मेघो का है। श्वेत रङ्ग की हल्की परतो से बना हुआ यह मेघ मकडी के जाले-सा छा जाता है और आकाश को सब ओर से घेर कर दूधिया रङ्ग का बना देता है। ठीक इसी मेघ के लिए कालिदास ने लिखा कि वह कैलास के समीप ऐसा जान पडता है मानो ऐरावत के मुख पर श्वेत पट तान दिया

१—नई दिल्ली की औद्योगिक प्रदर्शनी के ऋतुविज्ञान-विभाग मे इस प्रकार के फोटो देखने का सुअवसर हमें प्राप्त हुआ था। भारत सरकार की ओर से 'क्लाउड एटलस' (१९४५) नामक पुस्तक भी इस सम्बन्ध मे प्रकाशित हुई है।

गया हो (कुर्वन् काम क्षण मुखपटप्रीतिमैरावतस्य, १।६२) । ऊँचाई पर रहनेवाले इन मेघो की एक विशेषता यह है कि वहाँ मेघ १५० मील घटे की गति से चलते हुए पाए गए है । मेघ जितने ही ऊपर होते है उनकी गति उतनी ही तीव्र होती है । तीव्र वायु के इन चपेटो का कवि ने रूप ही खीच दिया है । कल्प-वृक्ष के पत्तो को हवा के झोको से धुनता हुआ मेघ ऐसा प्रतीत होगा मानो रेशम के अशुक वस्त्रो को कोई वायु मे फडफडा रहा हो—

धुन्वन्कल्पद्रुमकिसलयान्यंशुकानीव वातै-
र्नानाचेष्टैर्जलद ललितैर्निर्विशेस्तं नगेन्द्रम् । १।६२

(३) तीसरे प्रकार का मेघ श्वेत रग के छोटे-छोट गोलाकार मेघो के पु ज जैसा होता है । हिमालय पर ऊपर से नीचे आते हुए मेघ कैलास पर जहाँ शिव-पार्वती विचरण करते है सोपान पक्ति के आकार मे अपने शरीर की भंगिमा से शिव-पार्वती के सामने प्रकट होते है । (भङ्गी भक्त्या विरचितवपु स्तम्भितान्तर्जलौघ । सोपानत्व कुरु' ।१।६०) । कवि ने यहाँ मेघ के उस रूप की कल्पना की है जिसमे भीतर जल भरा हो किन्तु वाहर का आवरण श्वेत हिमकणो से वना हुआ हो । (देखिए श्लोक पर टिप्पणी) । हिम के कारण वाहर से उनका श्वेत रग प्रतीत होना स्वाभाविक है ।

(४) इस रूप मे मेघ वडे-वडे गोलाकार पिण्ड के रूप मे श्वेत या धूसर वर्ण लिये हुए होता है । थोडी-थोडी छाया करते हुए यह झु ड या पवित मे रहता है । अवश्य ही यह मेघ का वह स्वरूप ह जिससे वह ऊपर से नीचे उतरकर वायुमण्डल के मध्य स्तर मे आ जाता है । कवि ने कल्पना की ह कि हमारा मेघ भी हिमालय पर अपने सर्वोच्च स्थान से नीचे उतरकर पहाड की चोटी पन आकर वैठता है और शीघ्रता से ऐसा करते हुए वह हाथी के ठुमकते हुए छोटे वच्चे का रूप धारण कर लेता है । (गत्वा सद्य कलभतनुता शीघ्रसपातहेतो २।१८) । जो मेघ पहले कैलास की ऊँची श्वेत चोटियो का अतिथि था (कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथि १।५८) वह अलका मे यक्ष के घर के प्रागण के क्रीडा-शैल पर वठने के लिए नीचे उतरता है और इसके लिए हाथी के छोटे वच्चे के समान वन जाता है । कैलास के कुमुद-समान श्वेत शृंगो की ऊँचाई वीस सहस्र' फुट क लगभग है । वायु-

मण्डल मे ये मध्य-मेघ सवा चार मील से १।३/४ मील की ऊँचाई तक रहते है।

(५) ये मेघ भी ऊपर के ही मेघ के अवान्तर भेद है। केवल इनका वर्ण नीला या धूसर दिखाई पडता है।

(६) यह मेघ शरद ऋतु मे बहुधा आकाश को ढक लेता है और वर्षा-मेघ से भिन्न होता है। इसका वर्णन कवि ने उत्तर मेघ के सातवें और इक्कीसवे श्लोक मे किया है। शरत्कालीन नीले आकाश मे रात्रि के समय चन्द्रमा के साथ आँख-मिचौनी करते हुए इस मेघ का स्वरूप अत्यन्त मनोहारी होता है। कभी वह चन्द्रमा को ढक लेता है और कभी उसका सरोध हट जाने मे चन्द्रमा की निर्मल किरणे पृथ्वी की ओर आती हुई ओस-कणों की वर्षा करती है मानो चन्द्रकान्त मणियो से चुआ हुआ जल स्फुट दिखाई पड रहा हो। इसी मेघ के पीछा करने से जब चन्द्रमा की काति ढक जाती है तो उसका दीन रूप ऐसा ज्ञात होता है मानो किसी विरहिणी के चन्द्रमुख पर अलकावलि लटक आई हो। (**मुखमसकल व्यक्तिलम्बालकत्वादिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्ट-कान्तेर्बिभर्ति** ।।।२।८१)।

(७) वर्षा-मेघ, इसे अंग्रेजी मे निम्बस कहते है। लैटिन भाषा मे निम्बस शब्द का अर्थ ही मेघ है। वस्तुत व्युत्पत्ति की दृष्टि से मेघ नाम की सार्थकता इसी मे है। जो जल का मेहन या वर्षण करे वही मेघ है। (मेघ कस्मात् मेहतीति । निरुक्त)। कालिदास का विद्युत्त्वन्त दूत यही मेघ है जिसके लिए कवि ने प्रावृषा सभृतश्री (२।५२) अर्थात् वर्षा मे पूर्ण शोभा से सम्पन्न हो जाने वाला, ऐसा लिखा है। यह मेघ अत्यन्त काला और घना होता है, जमकर जलवृष्टि करते हुए इस मेघ को कवि ने अभ्रवृन्द कहा है—

या वःकाले वहति सलिलकोद्गारमुच्चैर्विमाना ।
मुक्ताजालग्रथितमलक कामिनी वाभ्रवृन्दम् ॥

(मेघ० १।६३)

निरन्तर सलिलोद्गार करनेवाले या झड़ी लगाकर बरसनेवाले ये काले मेघ जब ऊँचे महलो की अटारियो पर छा जाते है तभी वर्षा का सच्चा रूप सामने आता है। कवि ने इसे अन्तस्तोय या जलभरित कहा है (२।१)। इन मेघो मे न गर्जन होता है और न चमक। ये विद्युत् को

अपने गर्भ मे छिपाए रहते है। (विद्युत् गर्भ, २।३५)। कभी वे स्तनित विमुख (२।३४) अर्थात् गर्जन से रहित होते है और कभी बीच-बीच मे धीर गर्जन भी करते है (धीर स्तनित वचनै, २।३५)। बीच-बीच मे इन मेघो से नन्ही-नन्ही बूँदो की फुहारें-सी आती है। (त्वामप्यस्त्रं नवजलमय मोचयिष्यत्यवश्य। २।३०), और कभी सहस्रो वारिधाराओ से मूसलाधार अटूट वृष्टि होती है। इसी कारण इन्हे द्रोण मेघ कहा जाता है। वन मे लगी हुई दावानल को बुझाने वाले ये ही मेघ होते है (अर्हस्येन शमयितुमल वारिधारासहस्रै।१।५३)। पृथ्वी का सच्चा कल्याण करने वाले यही मेघ है। (आपन्नार्ति प्रशमनफला संपदोह्युत्तमानाम्, १।५३)। कृषि का सम्पूर्ण फल इन्ही की कृपा पर निर्भर है। (१।१६)

(८) ये मेघ गोभी के फूल की भाँति गुम्वज के आकार मे क्षितिज के ऊपर छा जाते है। आम्रकूट के नीचे शिखर पर वितान-सा बनाकर फैला हुआ वेणी के सदृश काले रग का मेघ यही है। (त्वय्यारूढे शिखर-मचल स्निग्धवेणीसवर्णे १।१८)। तरुवन पर मण्डल वनाकर छाया हुआ रूप (उच्चैर्भुजतरुवन मडलैनाभिलीन।१।३६) इसी मेघ की कल्पना है।

(९) कुज वर्षा मेघ नामक मेघो के इस अवान्तर भेद मे तूफान, गर्जन और घोर वृष्टि होती है। ये खूब दहाड़कर गरजते और वरसते है। कवि के तोयोत्सर्गस्तनित मुखर, (१।३७) विशेपण मे इन्ही मेघो की ओर सकेत जान पडता है, जब घुप्प अँधेरी रात मे वे गरजते-वरसते हुए स्त्री-पुरुषो को डरपाते है। इनके गर्जन की प्रतिध्वनि ऐसी कठोर होती है मानो पर्वत की कन्दरा मे कोई शेर दहाड रहा हो (अद्रि ग्रहण गुरुभि गर्जितै १।४४)। इसे ही कवि ने वर्णकठोर गर्जन कहा है (श्रवण परुषै गर्जितै, १।६१)।

(१०) परतीले मेघ—यह मेघ कुहासे के समान होता है किन्तु वह पृथ्वी के निकट रहकर आकाश की ओर उठता है। कवि ने इसे धुएँ के आकारवाला कहा है (धूमोद्गारानुकृति निपुणा २।६) जो पृथ्वी से ऊपर की ओर उठता हुआ अटारियो के जाल-मार्गो से मानो धुएँ की तरह जर्जर रूप मे निकल भागता है।

परिशिष्ट २

मेघों का वैज्ञानिक विवेचन[1]

[लेखक श्री पुरुषोत्तम प्रसाद ज्ञानी और श्री कैलाशविहारी प्रसाद, प्रो० साइंस कालिज, पटना]

साधारणत लोग जानते है कि हवा समुद्र से जल लेकर मेघ बनाती है और ये ही मेघ जब पहाडो से टकराते है तो वर्षा होती है। हमे यह स्पप्ट करना है कि हवा किस प्रकार समुद्र से जल प्राप्त करती है, मेघ का निर्माण कैसे होता है तथा मेघ-वर्षण किस प्रकार होता है। साथ ही इन्द्रधनुप की उत्पत्ति कैसे होती है, नभ गर्जन क्या है एव नभ मे विद्युत् का प्रवाह कैसे होता है।

पृथ्वीतल पर तीन भाग जल और एक भाग स्थल विस्तृत है। जल की सतह से वाप्प सर्वदा उडता रहता है। सूर्य का प्रचंड ताप जब समुद्र की सतह पर पडता है तो वाप्पीकरण की गति और बढ जाती है। अतएव ग्रीप्म ऋतु मे बहुत अधिक वाप्प बनता है। वाप्प साधारण वायु से ०.६४ गुणा हल्का होता है। अतएव समुद्र की सतह से यह क्रमश ऊपर उठता है और वायु प्रवाह मे पडकर स्थल की ओर जाता है। वाप्प-मिश्रित वायु के मार्ग मे जब कोई ऊँची भूमि या पहाड आ पडते है तो हवा की आगे बढने की गति रुक जाती है। अत. यह पुन ऊपर की ओर उठने लगता है। वायुमण्डल का ऊपरी भाग उसके निम्न भाग से ठडा होता है। इसलिए ज्यो-ज्यो वाप्प-मिश्रित वायु ऊपर उठता जाता है त्यो-त्यो वह ठडा होता जाता है। ठडा वायु गर्म वायु से कम वाप्प धारण कर सकता है। इसलिए वायु के ठडा होने के कारण वाप्प का कुछ अ श जल के सूक्ष्म कणो के रूप मे परिणत हो जाता है। अपनी सूक्ष्मता के कारण ये कण वायु में ही अवलम्बित रहते है। ऐसे असख्य कण वायु के ऊपरी भाग मे एक साथ अवलम्बित होकर मेघो का निर्माण करते है। शरद् ऋतु मे हम प्राय कुहासा देखते है। यह

१—हिन्दी साहित्य-संघ, पटना द्वारा प्रकाशित हस्तलिखित 'रश्मि' के मेघांक से श्री गया राय की कृपा से उद्धृत।

भी मेघ ही है जो पृथ्वी तल के निकट वायु मे अवलम्वित रहता है। ऐसा भी कह सकते है कि मेघ वायु-मंडल के ऊपरी भाग मे लगा हुआ कुहासा है। उक्त मेघ वायु के साथ कुछ और ऊपर उठता है जिसके फलस्वरूप जल के कण कुछ और वडे-वडे हो जाते है। अब वे वायु मे अवलम्वित नही रह सकते और वर्षा के रूप मे पृथ्वीतल पर वरस पडते है। वर्षा का अधिकाश जल नदी द्वारा समुद्र मे चला जाता है। अत. हम देखते है कि समुद्र का जल वायुमण्डल एव पृथ्वी-तल का भ्रमण करने के उपरान्त पुन. समुद्र मे ही चला जाता है। यह क्रिया जल का आवर्त्तन कहलाती है। ग्रीष्म ऋतु के ताप से हम नगरवासी भले ही घवराएँ, परन्तु किसान इससे नही घवराते, वल्कि इसका हृदय से स्वागत करते है क्योकि वे जानते है कि आरम्भ मे कुछ विशेप ताप पडने से वाद मे विशेप वर्षा होगी जिससे कृपि-कार्य मे सहायता मिलेगी। यह उनका साधारण अनुभव है पर उपरोक्त वातो से इस अनुभव का वैज्ञानिक स्पष्टीकरण होता है, अर्थात् जल पर अधिक ताप, उससे वाष्प, फलस्वरूप अधिक मेघ, और अधिक वर्षा जिससे कृषक हर्षित होते है।

कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि आकाश के मेघाच्छन्न होते हुए भी वर्षा नही होती। कारण यह है कि मेघ से जल की वूँदे पृथ्वी-तल की ओर चलती तो है परन्तु मार्ग मे अधिक गर्म वायु लगने के कारण पुन वाष्प वनकर वायु मे मिल जाती है और वर्षा नही होने पाती।

यह भी देखा जाता है कि विभिन्न समय मे वादल का रूप, रंग, आकार एव गति भिन्न-भिन्न होती है। इन वातो के आधार पर प्राचीन काल से ही मेघो के वर्गीकरण की चेष्टा की जा रही है। यो तो वर्गीकरण कई प्रकार से किया गया है, परन्तु सर्वमान्य आधुनिक वैज्ञानिक वर्गीकरण के अनुसार मेघो को निम्नाकित दस वर्गो मे विभक्त किया गया है।

अ सर्वोच्च मेघ (Upper clouds)

ये मेघ वायुमण्डल मे वहुत ऊँचाई पर पाए जाते है। इनकी औसत ऊँचाई ५ मील के लगभग होती है। ये दो प्रकार के होते है—

१. कुन्तल मेघ (Cirrus clouds)—यह कोमल श्वेत रोयेंदार

पिंड के रूप मे दिखाई पडता है। जिस ऊँचाई पर यह पाया जाता है वहा का तापक्रम ३२° फारनहाइट अर्थात् जल के हिमाक से कम रहता है। अतएव यह जल के वदले वर्फ के सूक्ष्म कणो का ढेर है।

२ कुन्तल परतीले मेघ या मछरीले मेघ (Cirro-stratus clouds)—यह हल्के श्वेत मेघ की पतली परत होती है। कभी-कभी यह मेघ आकाश को पूर्ण रूप से घेरकर उसे दुग्धवत् वना देता है। कभी इसका सगठन रेशेदार मालूम पड़ता है। देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि यह लिपटाया हुआ मकडी का जाला है।

आ मध्य मेघ (Intermediate clouds)

ये मेघ वायुमण्डल मे ४।३/४ से १।३/४ मील की ऊँचाई मे रहते है। ये तीन प्रकार के होते हे।

३ कुन्तल-कुञ्ज मेघ या उनीले मेघ (Cirro-cumulus clouds)—यह श्वेत चोड़यांदार छोटे-छोटे गोलाकार मेघो का पुञ्ज होता है। अतएव आकाश-मछलियो का-सा मालूम होता है। इससे छाया नही के वरावर होती है। ये छोटे-छोटे झुंड प्राय पक्तियो मे रहते है।

४. उच्च कुञ्ज मेघ (Alto-cumulus clouds)—यह कुछ वडे-वड़े गोलाकार पिंड के रूप से रहता है और श्वेत या धूसर वर्ण का होता है। इससे थोडी छाया भी होती है। यह झुण्ड या पक्ति मे रहता हे।

५ उच्च परतीले मेघ (Alto-stratus clouds)—यह धूसर या नीले वर्ण के घने परतो के रूप मे रहता है। कभी-कभी यह मटियाले वर्ण का रेशेदार सकुचित पिंड-सा भी होता है।

इ निम्नतर मेघ (Lower clouds)

ये मेघ वायुमडल मे १।१/४ मील की ऊँचाई के लगभग रहते है। ये दो प्रकार के होते है।

६ परतीले कुज मेघ (Strato—cumulus clouds)—यह मटियाले वर्ण के वडे-वड़े पिंडो के रूप मे रहता है। यह वेलन के आकार का भी होता है। शरद ऋतु मे तो यह वहुधा समस्त आकाश को ढक लेता है। इससे वर्षा नही होती, अत यह वर्षा-मेघ से भिन्न है।

७ वर्षा-मेघ (Nimbus clouds)—यह काला आकारहीन एव घना मेघ होता है। इसके किनारे कटे-फटे रहते है। इससे अनवरत वर्षा

होती है या वर्फ गिरता है।

ई. दैनिक आरोहक प्रवाह के मेघ (Clouds of diurnal ascending currents)

ये दो प्रकार के होते है—

८ कुंज-मेघ (Cumulus clouds) इस मेघ का आधार १५०० गज और शीर्ष २००० गज की ऊँचाई पर रहता है। यह ऊन के ढेर या फूलगोभी के आकार का होता है और इसका ऊपरी भाग गुंवज के सदृश होता है। इसका आधार प्राय: क्षैतिज होता है।

९ कुंज-वर्षा मेघ (Cumulo-nimbus clouds) इसका आधार १५०० गज और शीर्षक १।३/४ से ५ मील तक की ऊँचाई पर रहता है। यह मेघो का विशाल पुंज होता है। इसका आधार काला होता है तथा इसका ऊपरी भाग पहाड-सा उठा होता है। इससे तूफान, मेघगर्जन और घोर वृष्टि होती है।

उ घना कुहास (High fogs) यह मेघ ११०० गज की ऊचाई से नीचे रहता है। यह एक ही प्रकार का होता है।

१० परतीले मेघ (Stratus clouds) इसमे मेघो की बराबर तहे रहती है। यह कुहासा के समान होता है, परन्तु भूमि के निकट नही रहता।

प्राय सभी मेघ १००० गज की ऊँचाई के ऊपर ही रहते है। शरद् ऋतु से ग्रीष्म ऋतु मे इनकी ऊँचाई अधिक होती है। आकाश मे इन्हे हवा उडाए फिरती है। वायुमण्डल के ऊपरी भागो मे नीचे की अपेक्षा वायु की गति अधिक होती है। इसलिए मेघ जितना ही ऊपर होता है उसकी गति उतनी ही तीव्र होती है। ५।। मील की ऊँचाई पर मेघ १५० मील प्रति घंटे तक की गति से चलते पाए गए है। अन्वेषको के कठिन परिश्रम से यह निश्चित रूप से जाना जा सका है कि पृथ्वी-तल से १० मील की ऊँचाई के अन्दर ही बादल रहते है। इस ऊँचाई के ऊपर बादल बिल्कुल नही रहते। हाँ, आँधी-तूफान रह सकते है। वायुमण्डल का यह प्रदेश जो दस मील की ऊँचाई से ऊपर है स्तर-मण्डल (Strato-sphere) कहलाता है। उसकी विशेषता यह है कि इसमे तापक्रम लगभग स्थिर और बहुत कम रहता है। पृथ्वीतल स्तर-मण्डल के बीच का वायुमण्डलीय प्रदेश मेघमण्डल (tropo-sphere)

कहलाता है ।[1]

मेघ वर्षा के रूप मे जल देकर भूमण्डल मे रहनेवाले जीवधारियो का रहना सम्भव करते है । मेघ ताप का शोषक है । इसलिए सूर्य की प्रचड किरणो से यह छाते के समान हमारी रक्षा करता है । शरद् ऋतु मे प्राय. ऐसा देखा जाता है कि जिस रात्रि मे मेघ रहते है वह रात्रि कुछ गर्म मालूम होती है । कारण यह है कि मेघो की अनुपस्थिति मे पृथ्वी रात्रि मे बहुत-सा ताप छोडकर ठडी हो जाती है । पर मेघ रहने पर तापभाग नही निकल सकता । इसलिए गर्मी बनी रहती है । अतएव मेघ हमारे लिए कम्बल का भी काम करता है । मेघ से दूसरे लाभ भी है । नभ मे बिजलियाँ भी इसी के कारण चमकती है । बिजलियो के चमकने से १००,०००,००० टन नाइट्रोजन-निर्मित खाद बनता है जो वनस्पति के निर्माण मे मुख्य भाग लेता है । प्राणी वनस्पति खाकर अपने शरीर के लिए नाइट्रोजन प्राप्त करते है ।

मेघो मे विद्युत्-शक्ति भरी रहती है । जब दो मेघो के बीच या मेघ और पृथ्वी के बीच बडी-बड़ी विद्युत्-चिनगारियाँ उत्पन्न होती है तो उन्हे ही हम बिजली चमकना कहते है । एक सेकेण्ड के दस लाखवें हिस्से मे विद्युत्-विसर्ग (Lightning discharge) होता है । इसकी शक्ति ५००,०००,००० 'अश्वबल' (horse power) होती है और यह प्रकाश की गति से अर्थात् १,८६,००० मील प्रति सेकेण्ड चलती है । बिजली बहुत ही उच्च तापक्रम उत्पन्न करती है जिसके कारण निकट का वायु बहुत गर्म हो जाता है । अकस्मात् गर्म होकर वायु बहुत फूल जाता है, इसलिए वह चारो ओर भीषण गति से भागता है । फलस्वरूप नभ मे गर्जना होती है । इसे ही हम मेघ-गर्जन कहते है ।

कृत्रिम मेघ बनाकर भी वर्षा प्राप्त करने की चेष्टा की गई है । हालैंड मे वायुयानो की सहायता से मेघो पर बर्फ के चूर्ण गिराकर पानी बरसाया गया था । बर्फ के स्थान मे द्रव वायु को भी काम मे लाया गया है । परन्तु अभी तक ये प्रयोग पूर्ण रूप से सफल नही हो सके है ।

१—प्राचीन पारिभाषिक शब्दावली मे स्ट्रैटोस्फीअर सुरपथ या देवपथ, ट्रोपोस्फीअर घनपथ और उससे नीचे खगपथ कहा जायगा । (रघु० १३।१९) ।—वासुदेवशरण

यदि हम इस क्षेत्र में सफलता प्राप्त कर ले तो दुनिया की कितनी ही बंजर भूमि लहलहाते खेतो मे परिणत हो जाय।

वर्षा ऋतु मे हम प्राय आकाश मे इन्द्रधनुष भी देखते है। इसका भी सम्बन्ध मेघो से है। इन्द्रधनुष का निर्माण कैसे होता है इस बात को समझने के लिए पहले हमे त्रिपार्श्वीय काँच के टुकडे द्वारा देखना चाहिए। यहाँ भी हम इन्द्रधनुष के रंगो को अपनी इच्छानुसार देख सकेगे। वास्तव मे बात यह है कि ये रग न काँच के टुकडे मे है न नभ मे, बल्कि सूर्य के प्रकाश मे है। सूर्य का श्वेत प्रकाश जो हम देखते है वह तात्त्विक नही है बल्कि इसमे सात विभिन्न वर्ण के प्रकाश सयुक्त हैं। इन सातो का सम्मिश्र ही श्वेत प्रकाश है। साधारण श्वेत प्रकाश को खडित करने से क्रम से नील लोहित (Violet), नील (indigo), गाढा नीला (blue), हरा (green) पीला (yellow), नारगी (orange) और लाल वर्णो के प्रकाश उत्पन्न होते हैं। काँच के त्रिपार्श्वीय टुकडे मे ऐसा गुण है कि यह सूर्य का श्वेत प्रकाश खडित करके उक्त सातो वर्णो मे उस प्रकाश को छितरा देता है। ऐसी कोई बात नही कि काँच के त्रिपार्श्वीय टुकडे मे ही यह गुण हो, बल्कि उचित परिस्थिति मे जल की बूँदे भी ऐसा कर सकती है जिसके कारण इन्द्रधनुष बनता है।

इन्द्रधनुष वर्षा ऋतु मे ही दीख पडता है, परन्तु नित्य नही। ऐसा क्यों ? बात यह है कि जल की बूंदे और सूर्य के प्रकाश के रहने ही से इन्द्रधनुष बन जाय यह सम्भव नही। या बनता होगा हम देख नही पाते। इसके बनने के लिए, और प्रधानत जिससे हम इसे देख सके उसके लिये कुछ शर्ते अवश्य पूरी होनी चाहिएँ। सूर्य को देखने वाले के ऊपर या पीछे रहना चाहिए और नभ मे जल की बूंदे उसके सामने हो। ऐसा होने से सूर्य के श्वेत प्रकाश का किरण-जाल जल की बूंदो पर पडकर खंडित हो जाता है और लौटकर देखने वाले के पास आता है और इन्द्रधनुष के रूप मे दिखाई पडता है।

⊙ ⊙